

ओ३म्

# आस्तिधारा क्या है ?

क्षितीश वेदालंकार



ओ३म्

# असलियत वया है

लेखक

शितीश वेदालंकार

प्रकाशक

स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट  
आर्यसमाज हिण्डौन सिटी, ३२२२३० (राज०)

प्रकाशक :

स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट  
आर्यसमाज हिण्डौन सिटी (राजस्थान)

संस्करण : प्रथम, १६६२

(योगेश्वर श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, सम्वत् २०४६)

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : २२.०० रुपये

मुद्रक :

पण्डित कम्पोजिंग एजेंसी के लिए  
दुर्गा मुद्रणालय, सुभाषधार्क एक्सटेंशन,  
दिल्ली-३२ द्वारा मुद्रित

राष्ट्रीय अस्मिता के रक्षक,  
मिशनरी पत्रकारिता के उन्नायक,  
जीवन मूल्यों के सशक्त प्रहरी,  
बलिदानी राह के पथिक  
युगपुरुष, स्वनामधन्य, महामना  
पं० श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति  
के  
चरणों में सादर  
समर्पित ।

## प्रकाशकीय

क्षितीश वेदालंकार का नाम आते ही मस्तिष्क में एक साधारण से दिखने वाले व्यक्ति का चित्र उभरता है। ऐसा चित्र जो किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता। लगता है संसार के असंख्य जनों की भीड़ का एक बिन्दु यह भी है जिसका कुछ महत्व सम्भवतः अपने परिवार में हो। जब इत लघुकाय अस्थियों के समूह के अन्दर के गुणों का ज्ञान होने लगता है तो नेत्र सहसा ही संकुचित हो जाते हैं कि क्या यह सत्य है? जिन्होंने क्षितीश जी को मंच से सुना है उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि महर्षि दयानन्द के दीवाने अनुयाइयों में यह एक विलक्षण दीवाना है जो महर्षि की सत्यान्वेषी दृष्टि का कायल ही नहीं अपितु उसका अनुसरणकर्ता भी है—सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने को सर्वदा उद्यत। जिसके जीवन पर महात्मा गांधी की जीवन-शैली का अभिट प्रभाव पड़ा लेकिन जहाँ आपने देखा कि महात्मा जी यहाँ भूल कर गये वहाँ सत्य प्रकट करने से चक्के नहीं। आप उस मनोवृत्ति के प्रतिनिधि नहीं जो स्वयं को स्थापित करने के लिए दूसरों की टाँगें खींचते हैं। आपने अपने अग्रजों को मान तो दिया ही है, साथ ही आनेवाली पीढ़ी के नवांकुरों को भी खाद-पानी द्वारा सींचने में अपने श्रम की सार्थकता समझते हैं।

आपकी लेखनी समाज का सशक्त पहरेदार रही है। जब-जब देश और समाज पर संकट आया है, आपने अपने कर्तव्य का तत्परता से निर्वहन किया है। चाहे वह दमनकारी आपातकाल ही क्यों न हो। आपका जीवन इसलिए भी सुरभित है कि जहाँ आप लेखनी द्वारा अपने कर्तव्य का पालन करते हैं वहीं आप उससे सक्रिय रूप से जुड़ते भी हैं। हैदराबाद सत्याग्रह इस बात का प्रतीक है कि जब आपने अपनी साधना वेदालंकार परीक्षा की चिन्ता न कर आर्यों के इस जन-हितकारी आन्दोलन में भाग लिया।

प्रस्तुत पुस्तक में आपके द्वारा आर्यजगत् साप्ताहिक में सन् १९८६ में लिखे गये अग्रलेखों का संकलन है जिनका महत्व आज भी उतना ही है जितना तब था, यह साधना जो आपने महामना पं० श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के सान्निध्य में प्रारम्भ की, उसका ही सुखद परिणाम है कि आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी की सत्यनिष्ठा, त्याग व कर्तव्यपरायणता का सुन्दर निर्वहन कर रहे हैं। आज जबकि आप अत्यधिक अस्वस्थ हैं तब भी आपका चिन्तन चलता रहता है।

आपने परदे के पीछे रहकर जो कार्य किया है वह आर्योचित निष्ठा का ही प्रतीक है जो प्रचार से दूर मात्र कर्तव्यपूर्ति को ही धमं मानता है।

महर्षि दयानन्द ने जहाँ वेद को परमवर्म माना वहीं उन्होंने राष्ट्रोन्नति के लिए अथक यत्न किया। इस बात को क्षितीश जी इस प्रकार कहते रहे हैं कि आर्यसमाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और दूसरी राष्ट्र। आपकी चिन्तनधारा का मुख्य आधार राष्ट्र ही रहा है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तथा योगिराज श्रीकृष्ण के राजनीतिक पक्ष पर आपका चिन्तन-मनन योग्य है। प्रस्तुत संकलन में जहाँ कहीं-कहीं धर्म व सामाजिक समस्याओं पर आपकी लेखनी सजीव हुई है वहीं अधिकतर लेख राष्ट्रीय हितों की कस्टी पर भी जीवन्त हुए हैं। वैसे भी सुरक्षित और समृद्ध राष्ट्र के अन्तर्गत ही अन्यान्य गतिविधियाँ सुरक्षित रह सकती हैं। यही कारण है कि भारतीय स्वाधीनता के हिसक व अहिसक दोनों मोर्चों पर अधिसंख्य आर्यसमाजी ही बलिदान हुए हैं।

पंजाब समस्या जो देश की अखण्डता के लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गई है और जिसके सहारे अनेक अराष्ट्रीय शक्तियाँ सिर उठाने लगी हैं अथवा उठाने की प्रक्रिया में हैं, इस पर आपका तथ्यपरक दिग्दर्शन दिशाबोधक है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जिन लोगों का बिन्दुवत् योगदान रहा उन्हीं लोगों द्वारा वर्तमान में प्राप्त आजादी का सर्वाधिक सुख भोगा जा रहा है। इसका उपभोग इनके द्वारा ठीक वैसे ही किया आ रहा है जैसे बिना श्रम द्वारा प्राप्त धन का प्राप्तकर्ता द्वारा किया जाता है। यह कौन-सी समानता है कि पिचासी प्रतिशत जनता अपने मानवीय अधिकारों व रोजी-रोटी के लिए भी छटपटाती रहे और पन्द्रह प्रतिशत अधिकतम सुविधाओं पर अधिकार कर लें। यह कौन-सा न्याय है कि नव्ये प्रतिशत अंक वाला चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी भी कठिनाई से कलंक बन सके जबकि जैसे-तैसे पास होने वाला उसी का साथी उच्चतम पद पर आसीन हो जावे। यह श्रम और प्रतिभा का निरादर है जिसके परिणाम पूरे राष्ट्र को भुगतने होंगे। समानता का अर्थ बिना जाति, लिंग व मत के उन्नति के समान अवसर उपलब्ध करवाना ही है।

परन्तु विज्ञान व धर्म के नाम पर इतिहास में जो भीषण रक्तपात की घटनाएँ मिलती हैं उनका सबसे बड़ा दारोमदार यदि किसी पर है तो केवल तथ्याकथित रोमन कैथोलिक चर्च के ऊपर। यह पंक्तियाँ जहाँ एक बहुत बड़े सत्य का दिग्दर्शन कराती हैं वहीं लेखक के इतिहास ज्ञान को प्रकट करती हैं। जिससे उसकी बात का भार बढ़ जाता है। इतिहास साक्षी है कि पिछले दो हजार वर्षों में उत्पन्न हुए मजहबों का इतिहास मानव रक्त द्वारा ही सींचा गया है। लेखन व चिन्तन की संकुचितता जिनके लिए सब-कुछ है। एक सीमा के

बाहर विचारना उनके लिए गुनाह है। जबकि शाश्वत मानव धर्म किसी को किसी के विरुद्ध रक्तपिपासु नहीं बनाता अपितु विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ता है।

महात्मा गांधी के पदचिह्नों पर चलने का दावा करने वाली कांग्रेस के शासनकाल में पोप का राजकीय स्तर पर स्वागत किया गया। यह वही पोप थे जिनके समक्ष एक लाख आदिवासियों को अपनी जमीन से काटकर ईसाई मत में सम्मिलित करने की योजना थी। जबकि ईसाइयों के इस धर्म परिवर्तन पर महात्मा जी ने २३ अप्रैल, १९३१ के यंग इण्डिया में लिखा था कि ईसाई यदि भारतवर्ष में धर्मपरिवर्तन करना चाहें तो मैं उनसे कहूँगा कि वे वहाँ से चले जायें। धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देनेवाली सरकार का यह कार्य क्या उचित माना जाएगा।

पृष्ठ ३२ पर “जिस प्रदेश में हिन्दुओं का बहुमत घटता गया, वही प्रदेश भारत से कटता गया” लेख ऐसी सचाई को प्रकट करता है जिसकी तरफ से हमारे नेता अनजान बने हुए हैं, लेकिन यह भारत के भविष्य के स्वरूप में निर्णायिक भूमिका निभायेगा। एक बात यह कि लेखक के अनुसार डी० ए० बी० आन्दोलन ने परावीन भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध वातावरण बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई लेकिन अब यही स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजियत का पोषक कैसे बन गया, इस पर विचार करना रह गया।

क्षितीश जी ने अपनी लेखनी द्वारा स्वकर्तव्य का पालन जिस कुशलता से किया है वह अनुकरणीय है। आपके चिन्तन और लेखन से एक बात तो स्पष्ट ही है कि मात्र आर्यसमाज ऐसी संस्था है जो मानवहितार्थ स्वतन्त्र चिन्तन की दृष्टि से आदर्श संस्था है। सत्य और तर्क का विस्मयकारी सामंजस्य इसकी गरिमा है जो व्यक्ति, समाज व राष्ट्र को अनोखी आभा प्रदान करता है।

मानव की सबसे उत्तम सेवा विचार या ज्ञान द्वारा सम्भव है। यह दिशा-युक्त रहे तो कल्याण-ही-कल्याण है। पिछले कुछ समय में हमारे द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का जैसा स्वागत किया गया है उससे हमें उत्साह मिला है। हम और अधिक सेवा कर सकने हेतु आपसे साधनों की अपेक्षा करते हैं जिससे स्तरीय प्रकाशन के साथ-साथ कम मूल्य पर दिया जा सके। आपके सुझावों का स्वागत किया जावेगा।

## क्रम

कांग्रेस तो ऐसी जैसी 'कांग्रेस'		यह हिन्दू-सिख संघर्ष नहीं	१२०
धास	६	प्रथम चरण की सफलता	१२५
पोपजी ! हम भूले नहीं हैं हिन्दुओं के संगठित होने का	२२	खामोश क्यों हो ?	१३०
अवसर	२७	राष्ट्रगान और धर्म	१३६
एक महान् आन्दोलन	३३	संस्कृति और नई शिक्षा-नीति	१४१
आर्यों की मर्यादा	३८	आक्रोश का नहीं, निष्ठा का	
शिव की प्रतिमा पर चूहे	४३	दिवस	१४७
हरियाणा से अन्याय	४६	इकहत्तरवें जन्मदिवस का दर्द	१५३
राजीव जी का 'जी' कहाँ गया	५५	बैष्णव देवी का अधिग्रहण	१५४
मन चंगा तो कठोती में गंगा	६१	आर्य संस्कृति के प्रतीक—श्रीराम	१६४
उल्टे बाँस बरेली को	६६	कुछ प्रश्न और उनके उत्तर	१७०
एक कर्मठ व्यक्तित्व	७१	भारतीय अस्मिता का मन्त्रद्रष्टा	१७६
फिर खतरे की घण्टी	७६	आतंकवाद की छाया में	१८०
आर्यसमाज फिर आगे आया	८१	२६ नवम्बर : संविधान के प्रति	
सिखो ! हिन्दुओं को बचाओ	८७	आस्था का दिवस	१८५
गुरु ग्रन्थसाहिब पर हाथ रखकर		पाकिस्तान की सिख रेजीमेण्ट	१९०
बोलो	९३	नया सिख गुरुद्वारा कानून	१९७
अब हरियाणा हरिबोल !	९७	राष्ट्र का स्वरूप क्या है ?	२०२
हिन्दुओं के पलायन की प्रतिक्रिया	१०१	फिर वही अन्धी गली	२०८
हजूरे-आला बरनाला साहब !	१०६	देश को कौसा नेता चाहिए ?	२१३
परीक्षा की घड़ी और कुछ सुझाव	११४	हिन्दू और सिख में दरार किसने	
		डाली	२१६

॥ ओ३म् ॥

श्री घूडमल आर्य पुरस्कार से सम्मानित  
पं० श्री क्षितीशजी वेदालंकार  
की सेवा में सादर समर्पित

आदर्शोन्मुख मनीषी !

बधाई शब्द में से जिन्हें वध की गन्ध आती हो और जो व्यक्ति को प्रशंसा के चौराहे पर, खड़ा करने को उसकी सार्वजनिक रूप से मृत्युदण्ड की घोषणा मानते हों ऐसे आदर्श पुरुष श्री क्षितीशजी देखने में जितने साधारण लगते हैं, मुण्डों में उतने ही असाधारण हैं। सन् १९४४ में आपने अपना विवाह बिना दहेज के जाति-बन्धन तोड़कर किया जिसके फलस्वरूप आपको तीस पंचायतों का विरोध सहना पड़ा। यही नहीं आपने श्वसुर-गृह पर हुए प्रचार कार्यक्रम में जात-पात विरोधी मार्मिक व ओजस्वी व्याख्यान भी दिया। यही आदर्श आपने पुत्र के विवाह में अपनाया जब मात्र एक रुपया लेकर सम्बन्ध स्वीकार किया। नैतिक दृढ़ता आपका आभूषण रही है और तीव्र उत्तेजना के क्षणों में भी आपकी शान्त मुद्रा दर्शनीय होती है।

यह आपकी आदर्शोन्मुखी वृत्ति का ही परिणाम है कि सन् १९३६ में हैदराबाद के निवासियों के धार्मिक अधिकारों की रक्षार्थ आर्यसमाज द्वारा प्रारम्भ सत्याग्रह में आपने वेदालंकार की परीक्षा की चिन्ता किए बिना भाग लेकर निजाम की जेलों में कष्ट सहन किया। यह वही ऐतिहासिक सत्याग्रह था जिसके विरुद्ध सत्याग्रह के देवता माने जाने वाले महात्मा गांधी ने बक्तव्य दिया और जब आर्यसमाज इसमें सफल रहा तो गांधीजी ने इसके लिए बधाई भी दी।

पत्रकारों की कॉलोनी में खुलनेवाली मधुशाला को न खुलने देने के लिए आपके प्रयासों की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है।

## साहसी यायावर !

आपके लेखन की जीवन्तता का एक कारण आपका साहसपूर्ण यायावर जीवन भी रहा है। कर्मण्य जीवन ही सत्य के अधिक निकट होता है। यायावरी की अनेक घटनाएँ आपके जीवन का अङ्ग रही हैं जब आपने अपने जीवन को संकट में डालकर बांधित आकांक्षा पूर्ण की है। आदिवासियों में धर्मान्तरण के लिए कार्यरत वैरियर एल्विन से साक्षात्कार करने हेतु आपने बहुत कष्टपूर्ण यात्रा की परन्तु अन्त में अपने उद्देश्य में सफल रहे। इस पादरी ने कालान्तर में पश्चाताप करते हुए कहा था—“ईसाई-धर्म का प्रचार कर मैंने एक अधिक समुन्नत संस्कृति की हत्या की है।”

अपने बहुकोणीय व्यक्तित्व से प्रभावित करनेवाले क्षितीशजी ने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में कैलाश मानसरोवर, उत्तराखण्ड, पांगी की साहसिक यात्राएँ कीं जब वर्तमानकालीन साधन उपलब्ध नहीं थे। पण्डिम की यात्रा प्रथम भारतीय दल के सदस्य के रूप में की। पाकिस्तान, तिब्बत, नेपाल, मॉरीशस, नौरोजी, इङ्लैण्ड आदि देशों की यात्राएँ भी कीं। आपके बांग्लादेश के यात्रा वृत्तान्त ‘बंगलादेशः स्वतन्त्रता के बाद’ पर हरियाणा सरकार ने आपको पुरस्कृत किया है।

## समर्पित पत्रकार !

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज के कनिष्ठ पुत्र स्वनामधन्य पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति के सान्निध्य में अर्जुन के माध्यम से जिस आदर्श पत्रकारिता-यात्रा का आरम्भ आपने किया था वह वर्तमान में जीवन के चौथे चरण में भी चल रही है। आपके अनुसार समाचार-पत्र की जिम्मेदारी जनता के प्रति पहले है, पत्र-स्वामी के प्रति पीछे। परन्तु जनता के पीछे चलना इसका उद्देश्य नहीं अपितु उसे सही मार्ग पर चलाना उद्देश्य है। जनता के प्रति दायित्वबोध एवं सहानुभूति, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की गहरी समझ, प्रभावशाली भाषा एवं लेखन शैली, हर घटना के फलितार्थ पर चिन्तन तथा उसे पाठकों तक पहुँचाने की उत्सुकता, जनकल्याण के लिए समर्पित और निर्भीकता आप में कूट-कूटकर भरी हुई है।

दैनिक 'हिन्दुस्तान' में कार्य करते हुए आपने लोकप्रिय स्तम्भ यत्र-तत्र-सर्वत्र के लेखन में महत्वपूर्ण योगदान किया। इसमें कार्यकाल के अन्तिम तीन वर्षों में आप द्वारा रविवासरीय अंकों में लिखे गये अग्रलेख साहित्यिक जगत् में खूब सराहे गये। दैनिक हिन्दुस्तान को अखिल भारतीय समाचार पत्रों में तीन बार प्रथम पुरस्कार मिला और यह तीनों अंक आप द्वारा सम्पादित थे।

आपका उद्देश्य रहा बिकने के लिए छपो मत, छपने के लिए बिको मत। आपातकाल के समर्थन में जब आपसे हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया तो आपने मना कर दिया और दैनिक हिन्दुस्तान में लिखा बसन्त में कोकिल की आवाज अवश्य सुनाई देती है पर वह तो सुनाई नहीं देती क्योंकि उसकी आवाज पर प्रतिबन्ध है फिर हम कैसे मान लें कि बसन्त आ गया।

आपने अनेक स्मारिकाओं और अभिनन्दन ग्रन्थों का कुशल सम्पादन कार्य निपुणता से किया है। इस कार्य हेतु आपको पुरस्कृत भी किया गया है। आपकी कृति 'पंजाब : तूफान के दौर से' उन विरली हिन्दी कृतियों में से है जिसका अनुवाद अंग्रेजी में किया गया। कश्मीर समस्या पर 'झुलसता स्वर्ग : कश्मीर' आपकी महत्वपूर्ण कृति है।

आपका सम्पूर्ण लेखन सोहेश्य रहा है। इसके प्रतीक स्वरूप हम आपको यह श्री घूडमल आर्य पुरस्कार आपके लेखों के संकलन "चयनिका" पर भेट कर रहे हैं। हम जयप्रकाश जी भारती के शब्दों में कहना चाहेंगे—“पत्रकारों की गुरुडमता के अन्तर्गत गंगाजल-सी निर्मल आत्मीयता आपमें देखी जा सकती है।”

### प्रखर देशभक्त व श्रमजीवी !

मानव हितैषी देव दयानन्द के अनुयायी पं० क्षितीश जी ने हमेशा अपनी मातृ-संस्था आर्यसमाज के लिए यही कहा है कि इसकी एक भुजा वेद और दूसरी राष्ट्र है। आप उन मनस्वी, कर्मशील पुरुषों में से हैं जो लक्ष्य निर्धारित कर काल सरिता की लहरों को अपने बाहुबल से चीरते हुए आगे बढ़कर लक्ष्य तक पहुँचते हैं। सन् १९४१ में अंग्रेजी राज्य में जनगणना में अपने को आर्य लिखाने की प्रेरणा का कार्य आपको सौंपा गया और जब आंकड़े आये तो शासन चौंक गया कि विदर्भ व मध्य प्रदेश में इतने आर्य कहाँ से आ गये।

निजाम की जेल स आने के बाद आपने वर्तमान मध्य प्रदेश की एक सभा में देशभक्तिपूर्ण ओजस्वी भाषण दिया जिससे पुलिस आपके पीछे लग गई। सन् १९४५ में आर्यसमाज लाहौर बच्छोवाली में आपके भाषण पर महाशय कृष्ण ने कहा—आर्यसमाजाकाश पर एक दैदीप्यमान नक्षत्र उदय हो गया है। आर्यजगत् साप्ताहिक के अग्रलेखों में आपकी इसी राष्ट्रीयतापूर्ण चिन्तनधारा का परिचय मिलता है।

आज जबकि चिकित्सकों ने आपको चिन्तन व लेखन से विरत होने का परामर्श दिया है तब भी यदाकदा कुछ शक्ति अनुभव होते ही आपकी लेखनी गतिशील हो उठती है। ऐसे श्रमजीवी हमारे सम्माननीय पं० श्री क्षितीश जी वेदालंकार के चरणों में यह भावाऽङ्गलि अर्पित कर अपने आर्योचित् कर्तव्य के निर्वहन का हमारा यत्न है। हम परमदेव ओ३म् से आपके स्वस्थ व दीर्घ कर्मण्य जीवन की कामना करते हैं।

हम हैं आपके—  
आर्यसमाज व श्री घूडमल आर्य द्रुस्ट  
के सम्मानित सदस्य

## बहुमुखी व्यक्तित्व के स्वामी : क्षितीश वेदालंकार

आश्विन शुक्ल एकादशी सं० १६७३ (सन् १६१६) को जन्मे श्रीक्षितीश वेदालंकार ने अपना अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् सन् १६४० से १६४७ तक पंजाब (वर्तमान में पाकिस्तान के अन्तर्गत) में वैदिक धर्म का प्रचार कार्य किया । सन् १६४७ से १६५२ तक इतिहासपुरुष पण्डित इन्द्रजी विद्यावाचस्पति



के सान्निध्य में दैनिक अर्जुन में कार्य किया । इसके पश्चात् दैनिक हिन्दुस्तान और १६७६ से साप्ताहिकआर्यजगत् के सम्पादन का कार्य किया । अत्यधिक अस्वस्थ होने के कारण आपने १६६२ में इस कार्य से अवकाश ले लिया ।

मन्त्रमुग्ध कर देने वाले वक्ता पं० क्षितीशजी ने साहसिक यात्राएँ भी की हैं और आपको लेखनी तो समाज की सशक्त पहरेदार रही है । आपके द्वारा रचित

और सम्पादित दिव्य दयानन्द, देवता कुसीं के, श्रीकृष्ण सन्देश, ओ मेरे राजहंस, निजाम की जेल में, जातिभेद का अभिशाप, तूफान के दौर से : पंजाब, कश्मीर : झुलसता स्वर्ग, हिन्द की चादर पर दाग, मॉरिशस स्मारिका, सातवलेकर अभिनन्दनग्रन्थ, बांग्लादेश : स्वतन्त्रता के बाद, आदि अनेकों कृतियाँ हैं जिनके द्वारा आपके गहन अध्ययन और तलस्पर्शी चिन्तन का दिग्दर्शन होता है।

आपको इन्हीं सेवाओं के लिए अनेक बार सम्मानित किया गया है। आर्यसमाज हिण्डौन सिटी द्वारा आपको दशम् धूड़मल आर्य पुरस्कार (१९६२) द्वारा योगेश्वर श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर सम्मानित किया जाना था लेकिन आपकी अस्वस्थता के कारण यह सम्मान प्रतिनिधि रूप में आपकी सहर्षिमणी श्रीमती पवित्रादेवी को भेट किए जाने का निश्चय हुआ। श्रीमती पवित्रादेवी इसके लिए उपयुक्त पात्र हैं क्योंकि क्षितीशजी की यह यात्रा आपके आत्मना सहयोग का ही तो परिणाम है। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका क्योंकि निश्चित समय पर पूरा परिवार ही वायरल बुखार की चपेट में आ गया। यह सम्मान अब १९६३ ई० की शिवरात्रि पर भेट किया जायेगा।

‘स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट’ हिण्डौन द्वारा इस अवसर पर आपके लिखे सम्पादकीय का लघु संकलन प्रकाशित किया गया जिसका लोकार्पण राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती द्वारा किया गया।

**असलियत क्या है**

## कांग्रेस तो ऐसी जैसी 'कांग्रेस' घास !

एक घास तरह की घास है जिसका नामकरण किसी मनचले ने कांग्रेस के नाम पर 'कांग्रेस घास' कर दिया और वह शब्द देश में चल पड़ा। सम्भवतः जनता पार्टी के शासन में किसी ने यह नामकरण किया होगा। इस घास के सिरे पर टोपीनुमा जो छोटा-सा फूल आता है, शायद उसी को देखकर किसी ने यह नाम रखा हो। अंग्रेजी में इसे 'कैरट ग्रास' कहते हैं। यूं कैरट गाजर को कहते हैं। शायद गाजर के पौधे के ऊपर भी वैसा ही सफेद टोपीनुमा फूल आता है। (वनस्पति शास्त्र में इस घास का पारिभाषिक नाम है—पार्थीनियम हिस्टीरोफोस)

इस घास की एक विशेषता है। इसका बीज विदेशी गेहूँ के साथ भारत में आया था। जहाँ-जहाँ यह बीज पड़ा, वहाँ-वहाँ इसका अमित विस्तार होता गया। अब तो देश-भर में यह ऐसी छा गयी है कि बार-बार काटने पर भी यह नष्ट नहीं होती। डॉक्टरों का कहना है कि यह घास बीमारी की जड़ है। जिस प्रदेश में यह घास अधिक मात्रा में होती है वहाँ के निवासियों को आमतौर पर श्वास रोग की शिकायत हो जाती है। अगर यह घास छू जाय तो शरीर में खुजली होते भी देर नहीं लगती। यह खुजली बढ़ जाने पर असाध्य कोटि तक भी पहुँच जाती है। अभी तक चाणक्य जैसा कोई महामति महामात्य पैदा नहीं हुआ जो इस घास की जड़ में मठा डालकर इसका जड़-मूल से उच्छेद कर सकता। महात्मा गांधी ने आजादी के स्वर्ण-विहान में ही कांग्रेस को खत्म करके उसको लोकसेवक का दर्जा देने की सिफारिश की थी, पर यह कांग्रेस-घास ऐसे अहिंसक हाथों से समाप्त होने वाली नहीं थी।

हमने ऊपर कांग्रेस की उपमा 'कांग्रेस घास' से देने का संकेत किया है। वह अकारण नहीं है। हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस भी विदेशी बीज से ही पनपी और उसके बाद जो भी उसके सम्पर्क में आया उसको इसने ऐसा लपेट लिया कि वह तब तक उसके मोहपाश से छूट न सका, जब तक देश आजाद नहीं हुआ। आजादी के बाद मोह भंग हुआ तो कांग्रेस जो एक बार बिखरनी शुरू हुई तो बिखरती ही चली गयी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि अब से दो-तीन साल पहले कई दूरदर्शी पत्रकार यह भविष्यवाणी करने लगे कि यदि यही स्थिति रही तो सन् १९८५ के दिसम्बर मास में इसके १०० साल पूरे होने तक अपने शताब्दी वर्ष में ही यह नामशेष हो जायेगी।

पर यह नामशेष नहीं हुई। इसका प्रमाण यह है कि २७ से ३० दिसम्बर तक बम्बई की महानगरी में जो इसके शताब्दी वर्ष का विशाल समारोह हुआ उसमें वैसी भविष्यवाणी करने वाले पत्रकारों को इस कांग्रेस ने यादगार के तौर पर खून से सने घावों की पक्की निशानी दिये बिना नहीं छोड़ा। कांग्रेस घास जैसी अमित विस्तार वाली कांग्रेस जब सत्ता में पहुँच जाय तब उसकी मानवीय करुणा इस रूप में प्रकट न हो तो और किस रूप में प्रकट हो।

सन् १८७५ में ऋषि दयानन्द ने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की थी। उसके १० वर्ष के बाद सन् १८८५ में सर ए० ओ० ह्यमने, जिस स्थान पर आर्यसमाज की स्थापना हुई थी उससे कुछ ही गज की दूरी पर, 'तेजपाल भवन' में कांग्रेस की स्थापना की। कांग्रेस की स्थापना में मूल-प्रेरणा भारत के वाइसराय लार्ड डफरिन की थी। लार्ड डफरिन ने ह्यम साहब को यह अच्छी तरह समझा दिया था कि मेरे जीते-जी यह बात कभी प्रकाश में नहीं आनी चाहिए कि इस कांग्रेस की स्थापना के पीछे वाइसराय के रूप में मेरी प्रेरणा है और ह्यम ने ईमानदारी से इस रहस्य को उनके जीवनकाल में प्रकट नहीं होने दिया।

आर्यसमाज और कांग्रेस की स्थापना दो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से की गई थी। आर्यसमाज की स्थापना के पीछे ऋषि दयानन्द का उद्देश्य आर्यावर्त के प्राचीन गौरव को और उसकी अस्मिता को जगाना था, जबकि कांग्रेस का उद्देश्य प्राचीन गौरव के बजाय ब्रिटिश शासन में ही अपने-आपको गौरवान्वित समझने का प्रचलन परामर्श था। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के बाद भारत के बुद्धिजीवियों को अपने पक्ष में करने के लिए जहाँ लाड मैकाले की शिक्षा-पद्धति के स्कूल और कालेज खोलने का अभियान प्रारम्भ हुआ, वहाँ आर्यसमाज के माध्यम से 'स्व' की ओर अभिमुख होने वाले बुद्धिजीवियों को 'पर' की ओर प्रेरित करने के लिए कांग्रेस की स्थापना हुई। एक तरह से कहा जा सकता है कि आर्यसमाज के आनंदोलन के जवाब में ही ह्यम ने अंग्रेजी पढ़े-लिखों के बीच में अंग्रेज-मुखापेक्षी राजनीतिक चेतना जगाने के लिए कांग्रेस की स्थापना की थी। सन् १८५७ के बाद जो क्रान्तिकारी जेलों में पढ़े थे उनके प्रति भले ही आम जनता की सहानुभूति हो, पर उच्चवर्ग उस दिशा में सोचना ही बन्द कर दे, इसलिए उनको यह छुट्टी पिलानी आवश्यक समझी गई।

ह्यूम साहब की सफलता से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु उसके बाद कांग्रेस में कुछ ऐसे लोग भी आये जो ऋषि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित थे। उन्होंने धीरे-धीरे कांग्रेस की काया पलटनी शुरू की। जो कांग्रेस पहले अंग्रेजी-भाषी याचकों की एक टोली-भर थी, दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक और गोखले ने उसको याचक-वृत्ति से हटाकर अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली जमात के रूप में खड़ा कर दिया। जिन तीन विभूतियों के नाम हमने गिनाये हैं वे किस प्रकार ऋषि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित थे, यहाँ उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विज्ञ लोग उससे भली-भाँति परिचित हैं। उसके बाद लाल, बाल और पाल (लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल) की

त्रिमूर्ति ने कांग्रेस को सर्वथा जुझारू रूप दे दिया। तिलक ने लोगों को समझाया कि स्वराज भिक्षा में माँगने की बीज नहीं है, बल्कि वह भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है और उस अधिकार को हम लेकर रहेंगे। इसके साथ ही तिलक ने गीतोक्त कर्मयोग से भी देश की जनता को जोड़ दिया।

जहाँ भारत में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए वैद्यानिक आन्दोलन की यह धारा चल रही थी, वहाँ दूसरी ओर ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से ही उनके पट्टशिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा एक क्रान्ति-धारा भी चल रही थी, जो भले ही ब्रिटिश सरकार के कानूनों के अन्तर्गत वैद्यानिक न हो, परन्तु प्रत्येक गुलाम राष्ट्र के युवकों के लिए वही सबसे अधिक प्रेरणादायक रास्ता होता है। क्रान्तिकारियों के गुरु श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के माध्यम से ही वीर सावरकर, भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, ऊधमसिंह तथा ऐसे ही अन्य अनेक क्रान्तिकारियों का जन्म हुआ जिनकी देखा-देखी भारत में भी रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, सरदार भगतसिंह, अशफाक उल्ला खां, शचीन्द्रनाथ सान्याल, गेंदालाल दीक्षित तथा अन्य अनेक ऐसे क्रान्तिकारियों की श्रृंखला पैदा हुई जिन्होंने मातृभूमि की वेदों 'पर हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी।

सन् १९२० में लोकमान्य तिलक राजनीतिक मंच से तिरोहित हो गये तो महात्मा गांधी के हाथ में कांग्रेस की बागडोर आयी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा गांधी श्री राना डे और गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे और उक्त दोनों महापुरुष ऋषि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित थे, बल्कि किसी समय ऋषि के सहयोगी भी रहे थे। महात्मा गांधी ने आकर कांग्रेस को सत्य और अहिंसा के साथ जोड़कर जहाँ भारत के जन-जन में गहरे पैठी आध्यात्मिक मनोवृत्ति के कारण कांग्रेस को देशव्यापी बनाकर एक नया आयाम दिया, वहाँ उसको प्राचीन भारत के इतिहास के साथ

भी जोड़ दिया। क्योंकि सत्य और अहिंसा की भाषा भारत की जनता जितनी आसानी से समझती थी, उतनी आसानी से पूँजीवाद, समाजवाद या अन्य किन्हीं राजनीतिक वादों की भाषा को नहीं समझती थी।

महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के द्वारा भारत की जनता को इतिहास के साथ तो जोड़ा परन्तु वे ऋषि दयानन्द की तरह उसे प्राण-ऐतिहासिकता के साथ नहीं जोड़ सके। जहाँ ऋषि दयानन्द ने 'ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त' वाक्य का प्रयोग करके और अपने आपको उसी संस्कृति का प्रचारक बताकर भारत की जनता को प्राचीन आर्यों की महान विरासत सौंपी थी, वहाँ महात्मा गांधी ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध और जैन मत से आगे नहीं बढ़ सके। इसी-लिए अहिंसा पर जितना जोर उन्होंने दिया वह जैन और बौद्ध अहिंसा ही थी, वैदिक संस्कृति द्वारा प्रतिपादित ऐसी विवेकपूर्ण अहिंसा नहीं थी जिसका कभी खण्डन ही न हो सके। मनुस्मृति में क्षमा और अक्रोध को तो धर्म का लक्षण बताया है, परन्तु धर्म के १० लक्षणों में अहिंसा को नहीं गिनाया गया। इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि अहिंसा धर्म का अंग नहीं है। अहिंसा धर्म तो है, परम धर्म नहीं है।

क्या इस ऐतिहासिक तथ्य को भी आँखों से ओङ्कल किया जा सकता है कि जब-जब किसी विदेशी ने इस देश पर आक्रमण किया तो इसकी रक्षा के लिए बौद्ध-जैन कभी सन्नद्ध नहीं हुए, बल्कि इतिहास का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण सत्य यह है कि जब इस्लाम की आँधी तीव्र वेग से इस देश में आई तो जो-जो प्रदेश बौद्धों के गढ़ थे, उन्होंने सबसे पहले सिर झुकाकर इस्लाम को स्वीकार कर लिया, जबकि वैदिक धर्मावलम्बियों ने मिथ्या अहिंसा की परवाह न कर अपने देश की रक्षा के लिए हथियार उठाने में कभी संकोच नहीं किया।

महात्मा गांधी अहिंसा के पीछे कितने दीवाने थे, यह इसी बात

से स्पष्ट है कि सन् १९२१ के चौरी-चौरा काण्ड में हुई सामान्य हिंसा को लेकर उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया। सन् १९४२ में 'करो या मरो' का आह्वान देते समय तक अहिंसा की वह दीवानगी काफी कुछ घट चुकी थी, परन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। तब तक कांग्रेस के अन्य नेताओं ने अहिंसा को साध्य मानने के बजाय साधन मानना प्रारम्भ कर दिया था। कभी महात्मा गांधी कहा करते थे कि यदि 'हिंसा से स्वराज्य प्राप्त हुआ तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा।' परन्तु जब सन् १९४२ में देश का आक्रोश हिंसात्मक रूप में फूट पड़ा तब महात्मा गांधी भले ही उससे विचलित हुए हों, परन्तु उनके सिपहसालार जवाहरलाल नेहरू ने अवसर का पूरा लाभ उठाकर यह घोषणा कर दी कि इन सारे हिंसात्मक कार्यों की जिम्मेवारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ और यह कहते ही देश की आम जनता की दृष्टि में नेहरू का रुतबा गांधी से भी ज्यादा बढ़ गया।

उसी समय सुभाषचन्द्र बोस ने विदेश में पहुँचकर आजाद हिन्द सेना तैयार की और भारत की आजादी के लिए अंग्रेजों से जबर्दस्त लोहा लिया। अपने इस संघर्ष में आजाद हिन्द सेना बेशक पराजित हो गयी, परन्तु भारत की आजादी के लिए किया गया यह सर्वथा एक नया परीक्षण था और इसने समस्त भारत की जनता में इतनी उत्तेजना पैदा कर दी थी कि यदि उस समय सुभाषचन्द्र बोस भारत में जीवित पहुँच जाते, तो वे गांधी और नेहरू दोनों को कहीं पीछे छोड़ देते।

परन्तु तभी अंग्रेजों ने लार्ड माउण्टबेटन को भारत का वाइसराय बनाकर भेज दिया। उस व्यक्ति ने कुछ ऐसा जादू चलाया कि १५ अगस्त, १९४७ को देश तो आजाद हो गया, पर उससे एक दिन पहले सर्वथा अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व, अकलिप्त-पूर्व एक नये देश का जन्म हो गया जिसका नाम हुआ पाकिस्तान। भारत खण्डित हो गया।

: २ :

पिछला लेख हमने पाकिस्तान के जन्म के साथ समाप्त किया था। पाकिस्तान का जन्म भी रुक सकता था यदि उस समय एक गोपनीय रहस्य अप्रकट न रह जाता। हालांकि लार्ड बेवल और लार्ड माउण्टबेटन दोनों उस रहस्य से परिचित थे, परन्तु महात्मा गांधी समेत सब कांग्रेसी नेताओं को कभी उस रहस्य की भनक नहीं पढ़ने दी गयी। वह रहस्य यह था कि कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना आंतों और हड्डियों के भयंकर क्षय रोग से पीड़ित थे और उनका रोग इतनी दूर तक पहुँच चुका था कि कुछ महीनों से अधिक उनके जीने की आशा नहीं थी। अगर कांग्रेसी नेता कुछ महीने का और धैर्य धारण कर लेते और देश-विभाजन पर सहमत न होते, तो जिन्ना की मृत्यु के पश्चात् पाकिस्तान के पक्ष में कोई सबल प्रवक्ता न बचता। माउण्टबेटन इसीलिए जल्दी-से-जल्दी हिन्दुस्तान को आजादी के बहाने से पाकिस्तान का निर्माण करने को उत्सुक थे। ब्रिटिश सरकार ने उनको इसी उद्देश्य से भेजा था। उनके और लेडी माउण्टबेटन के मोहक व्यक्तित्व ने अंग्रेजी कूटनीति की इस शानदार ढंग से विजय करवाई कि १५ अगस्त के दिन लालकिले के मैदान में विशाल भारतीय जनसमुदाय पण्डित नेहरू की जय के साथ 'लार्ड माउण्टबेटन की जय' का नारा लगाता भी नहीं अघाता था। किसी कूटनीतिज्ञता की इससे बड़ी सफलता और क्या हो सकती है।

सरदार पटेल और पण्डित नेहरू जैसे विश्वसनीय नेता देश-विभाजन के लिए कैसे सहमत हो गये, इस पर इतिहासकार आश्चर्य कर सकते हैं। परन्तु जिनको केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में मुस्लिम लीग के शामिल होने के कारण दिन-प्रतिदिन के काम-काज में कदम-कदम पर प्रशासनिक कठिनाइयों का सम्मना करना पड़ता था, उनके सामने इसके सिवाय और कोई चारा भी नहीं था। महात्मा गांधी अन्त समय तक देश-विभाजन के विचार से सहमत नहीं हो पाये।

उनको अपने इस प्रण की भी लिहाज थी कि 'पाकिस्तान यदि बनेगा तो मेरी लाश के ऊपर बनेगा।' परन्तु उनके जीते जी ही पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया और उसको वे रोक न सके। निश्चित रूप से अगर महात्मा गांधी उस समय डट जाते और नेहरू और पटेल का विरोध सहकर भी देश के विभाजन का विरोध करते तो इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र उनका साथ देता। पर लगता है कि महात्मा गांधी भी अपना वह आत्मिक बल खो चुके थे। इस आत्मिक बल को पुनः उजागर करने के लिए उन्होंने पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया दिलाने के लिए आमरण अनशन बेशक किया, परन्तु तब तक तीर हाथ से निकल चुका था और महात्मा गांधी देश की जनता के साथ-साथ अधिकांश कांग्रेसजनों की सहानुभूति भी खो चुके थे।

वैसे पाकिस्तान जिस मनोवृत्ति और राजनीति का परिणाम था, उसे कांग्रेस में शुरू करने का सबसे बड़ा श्रेय भी महात्मा गांधी को ही है। निःसन्देह सत्य और अहिंसा के साथ असहयोग आन्दोलन को जोड़कर महात्मा गांधी ने कांग्रेस को गाँव-गाँव और घर-घर तक पहुँचा दिया था। परन्तु कांग्रेस की राजनीति में एक विष का बीज भी उन्होंने ही बोया। वह विष बीज था स्वराज्य के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता को आवश्यक शर्त बताना और उसके आधार पर खिलाफत आन्दोलन चलाना। किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए राष्ट्र के समस्त निवासियों का सहयोग आवश्यक है। और हिन्दू-मुस्लिम एकता के इस दृष्टि से हम भी प्रबल पक्षधर हैं। परन्तु हमें सबसे बड़ी खराबी यह लगती है कि हमने राष्ट्रीय-स्तर पर देश की जनता को हिन्दू और मुसलमान में बाँट दिया। जहाँ तक राष्ट्र का प्रश्न है, हम किसी मजहब, जाति या सम्प्रदाय या दल-विशेष को महत्व नहीं देते। वे सब चीजें अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर हैं। राष्ट्र तो ऐसे महासागर का नाम हैं जिसमें मजहब और सम्प्रदाय की सब नदियाँ अपना अस्तित्व विलीन कर देती हैं। इसलिए

राष्ट्रीय-स्तर पर हिन्दू और मुस्लिम की बात करना एक तरह महासागर में से उन नदियों को निकालकर पुनः स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर देना है। अगर ये नदियाँ महासागर की छाती पर मूँग दलती रहें तो महासागर को कौन पूछेगा? इसलिए अगर एकता की बात करनी थी तो हिन्दु-मुस्लिम की नहीं, किन्तु राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखने वाले उन सब लोगों की एकता की बात करनी थी जो बिना किसी मजहब व मिल्लत के राष्ट्र को सबसे ऊपर मानकर उसकी आजादी के लिए लड़ने-मरने को तैयार हों। परन्तु जब राष्ट्र के प्रति निष्ठा के बजाय किसी व्यक्ति का मुसलमान होना और उसको राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन देना राजनीति के अंग बन जाएँ तो निश्चय ही वे लोग राष्ट्र को कभी इस्लाम से बड़ा नहीं भानेंगे और हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होने के लिए मुसलमान होने के नाते अपनी कीमत वसूल करना चाहेंगे। इसी भनोवृत्ति का परिणाम था कि कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से मौलाना मुहम्मद अली ने यह कहने की हिमाकत की थी—“मेरे लिए हकीर से हकीर मुसलमान महात्मा गांधी से ज्यादा अच्छा है क्योंकि वह मुसलमान है।” क्या कांग्रेस के अध्यक्ष के मुख से निकला यह उद्गार राष्ट्रीयता का द्वोतक है?

इसी तरह मुसलमानों को अपने साथ मिलाने के लिए ही महात्मा गांधी ने खिलाफत को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ा। यह एक बहुत बड़ी भूल थी। इसको ‘हिमालयन ब्लन्डर’ कहना चाहिए। टर्की में खलीफा कायम रहना चाहिए—भारत के कांग्रेसी नेताओं द्वारा इस माँग में क्या तुक थी? यह विशुद्ध टर्की के निवासियों का मामला था। वे चाहें खलीफा को रखें या न रखें, भारत की जनता से उसका क्या वास्ता? यह आन्दोलन कितना अस्त्राभाविक था, यह इससे भी स्पष्ट है कि जब टर्की में अतातुर्क कमाल पाशा जैसा कान्तिकारी नेता पैदा हुआ तो उसने खलीफा को २४ घण्टे के अन्दर

## १८ : असलियत बया है

टर्की से निकल जाने की चेतावनी दी और खलीफा चुपचाप टर्की से पलायन कर गया। खलीफा के पक्ष में सारे टर्की में एक पत्ता तक नहीं हिला। जिस खलीफा को टर्की की जनता किसी हालत में बदाश्त करने को तैयार नहीं थी, उस खलीफा को बनाये रखने के लिए भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। किसलिए? केवल इसलिए कि भारत के कुछ मुसलमान कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हो जाएँ। शायद इस प्रकार के अस्वाभाविक आन्दोलन की मिसाल दुनिया भर के इतिहास में और कहीं नहीं मिलेगी। परन्तु आश्चर्य की बात यह है आज तक किसी कांग्रेसी नेता ने इस खिलाफत आन्दोलन के अनौचित्य के बारे में कभी अपने मुख से आवाज नहीं निकाली। फिर प्रश्न किया जा सकता है कि किसलिए? सिर्फ इसलिए कि कहीं हमारे मुसलमान भाइयों के कोमल दिलों को जरा-सी भी ठेस न लगे। जब चौधरी चरणसिंह कुछ समय के लिए प्रधानमन्त्री बने थे, तब उन्होंने खिलाफत आन्दोलन की सार्वजनिक रूप से आलोचना की थी। उनके सिवाय आज तक किसी कांग्रेसी नेता ने खिलाफत आन्दोलन को गलत नहीं बताया। चौ० चरणसिंह के बारे में तभी से 'मुहफट' होने का खिताब चल पड़ा।

हम फिर कहते हैं कि हम हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरोधी नहीं हैं। परन्तु राष्ट्र के स्तर पर हिन्दू या मुसलमात की परिभाषा में विचार करना ही गलत मानते हैं। महात्मा गांधी ने भारत की राजनीति में जो अस्वाभाविक बात घुसेड़ दी उसकी अन्तिम परिणति इस रूप में हुई कि सन् १९२८ की नेहरू कमीशन की रिपोर्ट में सारे भारत को मुस्लिम और गैर-मुस्लिम वर्गों में बाँट दिया गया और भारत की राजनीति से हिन्दू शब्द ही गायब हो गया। तभी से कांग्रेस की नीति में विशाल हिन्दू समाज की निरन्तर उपेक्षा की परम्परा चल पड़ी।

यह सब होने पर भी आजादी से पहले तक कांग्रेसी होने का एक

खास अर्थ था और उसका श्रेय भी महात्मा गांधी को ही देना होगा । उस समय कांग्रेसी होने का अर्थ था देश के लिए अपनी ओर से बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार रहना । महात्मा गांधी ने ऐसे हजारों कांग्रेसी तैयार किये, जिन्होंने जीवन की समस्त सुख-सुविधाओं को लात मारकर अंग्रेजों की जेलों में रहकर खुशी-खुशी कष्ट सहना स्वीकार किया । जिस समय कांग्रेस में कौन कितना अधिक त्याग करता है, इसकी होड़ चलती थी, उस समय जनता के मन में भी उन लोगों के प्रति सहज ही आदर बुद्धि पैदा होती थी । कांग्रेस के सामान्य-से-सामान्य कार्यकर्ता भी अपनी सच्चाई, ईमानदारी और त्याग-वृत्ति के लिए पूजा के पात्र माने जाते थे । पर आजादी मिलते ही त्याग और कुर्बानी की वह सारी होड़ अधिक भोग और विलास के साधन जुटाने की होड़ में परिवर्तित हो गयी । प्रभुता के साथ यह वृत्ति अनायास चली आती है । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को जितना अधिक महात्मा गांधी समझते थे उतना अधिक शायद और कोई नहीं समझता था । महात्मा गांधी मनुष्य स्वभावकी कमजोरियों से परिचित थे और इसीलिए अपनी दूरदृश्यता के कारण स्वराज्य-प्राप्ति के स्वर्ण विहान में ही उन्होंने कांग्रेस को भंग करके उसको लोकसेवक दल के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहा था । सत्ता में जो सुख है, वह लोक सेवा में कहाँ है? इसलिए सब कांग्रेसी नेता लोक सेवा को छोड़कर सत्ता सुख की ओर अपने त्याग और तपस्या का चैक भुनाने के लिए लपके ।

परन्तु यह भी सही है कि सत्ता की कुर्सियाँ सीमित हैं, इसलिए सब लोग उस सुख में भागीदार नहीं बन सकते । परन्तु पासा पलट चुका था । त्याग के बजाय भोग की होड़ प्रारम्भ हो गयी थी । इसी-लिए जो लोग सत्ता में नहीं आ पाये वे या तो सत्ता के चारों ओर चक्कर लगाने लगे, या बिखर कर कांग्रेस से दूर जाने लगे । एक तरह से कहा जा सकता है कि आज के जितने विपक्षी दल हैं और जितने

कांग्रेसी दल हैं वे सब उसी गांधी-कालीन कांग्रेस के वटवृक्ष की शाखाएं मात्र हैं। अब तक आते-जाते वटवृक्ष समाप्त हो चुका है, केवल शाखाएं रह गयी हैं। नेहरू और इन्दिरा गांधी तक उस वटवृक्ष की जड़ का कुछ तो हिस्सा बाकी था। परन्तु इस समय जो कांग्रेस के अध्यक्ष हैं, वे देश की आजादी के समय केवल तीन साल के बालक थे। इसलिए श्री राजीव गांधी का उस वटवृक्ष से मानसिक लगाव भले ही हो, कोई दैहिक लगाव नहीं है। इसी कारण कांग्रेस के शताब्दी समारोह में कांग्रेस की जितनी आलोचना उन्होंने की है, कभी कोई कांग्रेस का विरोधी नेता भी नहीं कर सकेगा।

जरा नमूना देखिए—“आज कांग्रेस में चारों तरफ दलालों का राज है। इन लोगों ने एक विशाल जन-आन्दोलन को चण्डाल चौकड़ी का राज बना दिया है। कांग्रेस की केवल काया रह गयी है, उसमें से सेवा और त्याग की आत्मा उड़ गयी है। गांधीजी ने जिसे त्यागी और तपस्वी जुझारू लोगों की जमात बनाया था आज वह ऐसे भोगी और कायरों की जमात बन गयी है कि संघर्ष का नाम सुनते ही भाग खड़ी होती है। इन लोगों का देश की गरीब जनता से कोई वास्ता नहीं रह गया है। ये गरीबों की सेवा के बजाय अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हैं। कांग्रेसी लोग सत्ता से लिपटकर जनता से दूर हो गये हैं और दिन-प्रतिदिन उनका जनाधार सिकुड़ता जा रहा है। मेहनत-मशक्कत करके गरीबी में दिन काटने वाले लोगों से हमारा कोई सोधा संपर्क नहीं बचा है।”

परन्तु कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से श्री राजीव गांधी का यह कथन आलोचना-परक न माना जाकर यथार्थवाद का द्वोतक ही मान लिया जाय, फिर प्रश्न वही पैदा होता है कि इस प्रकार की ‘कांग्रेस’ घास के जमे रहने का अब क्या प्रयोजन है? अगर डाक्टरों की बात सुनी जाय तो इस कांग्रेस घास को समाप्त करने में ही जनता

का हित है। अगर यही स्थिति रही तो एक दिन शायद इस कांग्रेस घास को समाप्त करके उसके स्थान पर सुन्दर हरी-भरी प्राणदायी घास से देश को सरसब्ज करने वाला कोई नया गांधी जन्म लेगा। इतिहास उसी की प्रतीक्षा में है। क्या श्री राजीव गांधी वह काम कर सकेंगे, इसका उत्तर भी इतिहास ही देगा।

[ १६ जनवरी; १६८८ ]

## पोप जी ! हम भूले नहीं हैं

निजामुलमुल्क वैटिकन सिटी, जनाब जॉन पाल साहब ! आप भारत में पदार्पण कर रहे हैं, आपका स्वागत है। हम भारतवासी बड़े आतिथ्य-प्रेमी हैं, इस बात का इतिहास गवाह है। हमने कभी किसी विदेशी या विधर्मी का अतिथि के नाते स्वागत करने में संकोच नहीं किया, क्योंकि यह अतिथि-धर्म के विरुद्ध है। हमारे शास्त्रों ने हमको माता-पिता और आचार्य को देववत् पूज्य मानने के साथ ही 'अतिथि देवो भव' का भी आदेश दिया है। इसलिए हम घर आये मेहमान को देवता से कम आदर नहीं देते।

परन्तु मेहमान बनकर आने वाला अतिथि कभी-कभी कितना अवांछनीय हो उठता है, भारत का इतिहास इसका भी साक्षी है। परन्तु हमने तो इतिहास से कोई शिक्षा न लेने की कसम खा रखी है न ! इसलिए जब भी कोई मेहमान शरण माँगने आया, तो हमने उसको शरण तो दी ही, यदि उस मेहमान ने अरब और उसके ऊँट के किस्से की तरह धीरे-धीरे हमारे तम्बू में से हमको बाहर निकाल-कर स्वयं उस पर कब्जा जमा लिया, तो बाहर सर्दी में ठिठुरते हुए भी हम उसको देवपूजा का अंग मानकर संतोष करते रहे। पोप साहब ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत की सरकार अपने संविधान में धर्म-निरपेक्षता की घोषणा करती है और आप जैसे एक धर्माध्यक्ष का राजकीय स्वागत करने के लिए अपने पलक पाँवड़े बिछा रही हैं। इससे अधिक अतिथिपूजा का उदाहरण और कहाँ मिलेगा कि एक धर्म निरपेक्ष सरकार एक धर्माध्यक्ष का स्वागत वैसे ही करे जैसे किसी राष्ट्राध्यक्ष का किया जाता है।

हाँ, भूल हो गयी । आप केवल धर्माध्यक्ष ही नहीं, राष्ट्राध्यक्ष भी हैं । रोम के मध्य में कुछ एकड़ में फैला आपका वैटिकन सिटी एक पूरा स्वायत्त राज्य भी तो है । चाहे वह आकार में कितना ही छोटा क्यों न हो, पर उसके कारण आपके राष्ट्राध्यक्ष होने में कोई आँच नहीं आती । सुना है, यह वैटिकन पहले कोई स्वतन्त्र नगर-राज्य नहीं था, मुसोलिनी जैसे हिटलर के साथी तानाशाह के काल में वह एक सन्धि की मार्फत स्वतन्त्र राज्य माना गया । अब वह संसार-भर के रोमन कैथोलिकों का सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान और एक स्वतन्त्र राज्य है जहाँ कि एक राजमहल में आप एक राजा की तरह निवास करते हैं ।

यह भी सुना है कि उत्तराधिकारियों की शृंखला में आपका २६४वाँ नम्बर है और जो साईमन पीटर नामक व्यक्ति सबसे पहला पोप बना था, वह ईसाई नहीं था । ईसामसीह के १२ शिष्यों में से वह ईसा का सबसे अधिक आलोचक था । कुछ लोग उसे अपराधकर्मी भी बताते हैं । पता नहीं वह कैसे पहला पोप बना और उसके नाम से संसार का सबसे बड़ा सेंटर पीटर गिरजाघर बना ।

पहले पोप की राजाओं जैसी शानो-शौकत नहीं थी और आधुनिक राजसी वैभव भी नहीं था । सन् १८६६ में पहली वैटिकन परिषद् आयोजित की गयी और उसने पोप को धर्म सम्बन्धी सब मामलों में—जिनमें लोक-परलोक दोनों शामिल हैं, सर्वोच्च अधिकारी घोषित कर दिया । उसके बाद के वर्षों में यह एक सुसंगठित संस्था बनती चली गयी और गढ़ी के उत्तराधिकारी ऐसे पोप बनते चले गये जिनमें भले और बुरे दोनों शामिल थे, ऐसा भी एक समय था जब चर्च की ओर से गैर-कैथोलिक लोगों को जिन्दा जलाना बुरा नहीं समझा जाता था और गुलामी की प्रथा का भी पूरी तरह समर्थन किया जाता था । चर्च की ओर से किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधार और प्रगति का विरोध किया जाता था ।

हम यूरोप का वह इतिहास नहीं भूले हैं, जब पादरियों ने अपने आलोचक ब्रूनो जैसे वैज्ञानिक और हाई पेशिया जैसी समाज सुधारक महिला को जिन्दा जलाया था। हम मध्यकाल के यूरोप का वह इतिहास भी नहीं भूले हैं जब गैर-ईसाइयों के लिए इनविविजिशन कोर्ट की मार्फत अमानवीय अत्याचारों के आदेश दिये जाते थे और बाइबिल के विरोध में कुछ भी कहने वाले को भयंकर दण्ड भोगना पड़ता था। क्या ईसाइयत के इतिहास से उस कलंक को मिटाया जा सकता है जो उसने गेलिलियों को सजा देकर अपने माथे पर लगाया था? सजा किसलिए? केवल इसलिए कि गेलिलियों ने दूरबीन से अध्ययन करने के पश्चात् यह घोषणा की थी कि सूरज पृथ्वी के चारों ओर नहीं धूमता, बल्कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर धूमती है। आज स्कूल का छोटे-से-छोटा बच्चा भी इस तथ्य को जानता है और उससे परीक्षा में यदि पूछा जाय तो इस प्रश्न का वह ठीक वही उत्तर देता है जो गेलिलियों ने दिया था, भले ही बाइबिल इस बारे में कुछ भी क्यों न कहती हो।

बाइबिल की और कितनी ही विज्ञान-विरुद्ध बातों को छेड़ने का यहाँ प्रसंग नहीं है। परन्तु विज्ञान और धर्म के नाम पर इतिहास में जो भीषण रक्तपात की घटनाएँ मिलती हैं उसका सबसे बड़ा दारो-मदार यदि किसी पर है तो केवल तथाकथित रोमन कैथोलिक चर्च के ऊपर है। यह ठीक है कि आज सारे संसार में लगभग ८२ करोड़ लोग कैथोलिक चर्च के अनुयायी हैं और वे संसार के सभी महाद्वीपों में फैले हुए हैं तथा सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में भी उनकी संख्या साढ़े ६ करोड़ से कम नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या वे सब लोग भी पोप को उसी तरह आदर का दर्जा देते हैं जैसे कि पुराने जमाने में दिया जाता था? अब स्वयं कैथोलिक ईसाइयों में ही विद्रोह की भावना उभरनी प्रारम्भ हो गई है। यह तो नहीं कह सकते कि मार्टिन लूथर के जमाने की तरह कैथोलिक और विभाजित हो जायेंगे,

परन्तु जिस ढंग से अन्दर-ही-अन्दर पोप के प्रगति विरोधी रुख के कारण बिड़ोह पनपा है, वह पोपडम के भविष्य के लिए शुभ शकुन नहीं है। फिलीपाइन्स में वैटिकन से बिना पूछे ही वहाँ के अनेक पादरी मार्कोस की कैथोलिक सरकार के विरुद्ध खड़ग-हस्त होकर मार्क्सवादी जनआन्दोलन के साथ हो गये हैं। ब्राजील के अन्दर भी बड़ी तेजी से मुकित युद्ध में सहयोग देने के लिए अनेक पादरी तैयार हो गये हैं। किसी भी पद पर महिलाओं को नियुक्त न करने और परिवार नियोजन के विरोध में घोषणा करने के कारण महिलाओं में भी पोप के विरुद्ध तीव्र असन्तोष उभरता जा रहा है। संसार-भर के गरीब कैथोलिक अब यह मानने लगे हैं कि पोप पूँजीवादियों के समर्थक हैं और गरीबों को और अधिक गरीब बनाये रखने के षड्यन्त्र में वे भी शामिल हैं। हम दूर क्यों जायें, भारत की ही बात करें, तो केरल में, जहाँ पोपपाल का सबसे अधिक जोरदार स्वागत करने की तैयारियाँ की गई हैं, वहाँ कई पादरियों ने उन गरीब मछुआरों का पक्ष लेना प्रारम्भ कर दिया है जो उनकी रोजी छीनने के लिए पूँजी-पतियों द्वारा बड़े-बड़े ट्रौलर प्रयुक्त करने के विरुद्ध आन्दोलन के रास्ते पर चल पड़े हैं।

भारत में ईसाइयत के अनेक रूप रहे हैं जिनमें सबसे धिनौना रूप है गरीब आदिवासियों की सेवा के माध्यम से उन्हें ईसाई बनाने का षड्यन्त्र। जिन ईसाई पादरियों ने मानवीय करुणा से प्रेरित होकर भारत के बनवासी और गरीब गिरिजनों की निष्काम भाव से सेवा की है, उनके आगे श्रद्धा से मस्तक झुकाने को जी चाहता है, परन्तु जब यह पता लगता है कि भेड़ के लबादे में छिपा हुआ भेड़िया उन गरीब अनपढ़ लोगों के पूर्वजों का धर्म छीनकर उन्हें ईसामसीह की भेड़ों बनाने में लगा है, तो जी खट्टा हो जाता है और तब ईसाइयत का मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास आँखों के सामने नाचने लगता है।

गोवा और केरल में आकर शुरू के पादरियों ने क्या-क्या

अत्याचार किये थे, वह हम भारतवासी भूले नहीं हैं। और पोप साहब, हमको विश्वास है कि आप भी भूले नहीं होंगे। आपके शुभागमन की इस वेला में उन अत्याचारों की याद दिलाना शायद आपको अच्छा न लगे। पर इतना निवेदन आवश्यक है कि पोप के नाम को 'पोप लीला' शब्द के माध्यम से जितना प्रचारित आर्यसमाज ने किया है उतना और किसी संस्था ने नहीं किया। हमने धर्म के नाम पर ठगने वाले प्रत्येक पाखंडी को 'पोप' की संज्ञा दी और एक तरह से 'पोप लीला' शब्द 'पाप लीला' का पर्यायवाची बन गया। पोप साहब, हम भारतीयों के मानसिक आक्रोश का कुछ आभास आपको पोप शब्द के इस अर्थान्तरण से हो जायेगा। इसलिए निवेदन है कि आप हमारे मेहमान बनकर आये हैं, तो आपका स्वागत है, परन्तु यदि आपके आने से इस देश में धर्मान्तरण की आँधी चल पड़ी—जिस प्रकार कि अनेक पादरी एक लाख आदिवासियों को ईसाई बनाकर आपकी भेड़ों में शामिल करके आपके स्वागत को घोषणा करते फिरते हैं, तो आपके अनुयायियों की इस पाप-लीला को और कोई क्षमा करे तो करे, परन्तु भारत वर्ष के जागरूक आर्यवीर उसे क्षमा करने वाले नहीं हैं।

[ २ फरवरी, १९८६ ]

## हिन्दुओं के संगठित होने का अवसर

महात्मा गांधी ने ६ मार्च, १९३७ के 'हरिजन' में लिखा था—  
"सेन्ट जॉन के इस वचन को मैं अक्षरशः सत्य नहीं मानता कि केवल ईसा-मसीह ही जन्मना ईश्वर के पुत्र हैं। ईश्वर किसी एक का ही पिता नहीं हो सकता और न यह हो सकता है कि मैं केवल ईसा में ही देवत्व का आरोप करूँ। उनमें भी वैसा ही देवत्व है, जैसा कृष्ण या राम में। इसी प्रकार मैं बाईबिल के भी हर शब्द को दिव्य नहीं मानता। बाईबिल भी उसी तरह एक ग्रन्थ है, जिस तरह गीता और रामायण।

"इसी प्रकार मैं आपके इस दावे को भी स्वीकार नहीं करता कि एकमात्र सच्चा धर्म ईसाई धर्म ही है। यह बात जरूर है कि यह भी अच्छा एवं उदात्त धर्म है और मनुष्य को नैतिक रूप से ऊपर उठाने में अन्य धर्मों के साथ-साथ इसने भी योगदान किया है। लेकिन अभी इससे भी बड़ा योग इसे देना है। किसी धर्म के इतिहास में दो हजार वर्ष का काल तो कुछ भी नहीं होता। आज तो व्याकुल मानवता के सामने ईसाई धर्म दूषित रूप में ही पेश किया जा रहा है। जरा सोचिए कि बड़े-बड़े पादरी ईसाई धर्म के नाम पर हत्या और रक्तपात का समर्थन करें, यह कैसी विचित्र बात है।"

इसके बाद २५ फरवरी, १९३६ के 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा था—“ईसाई मिशनरियों से मेरा झगड़ा इसी बात पर है कि वे समझते हैं कि ईसाई धर्म के अलावा और कोई धर्म सच्चा नहीं है।”

इसी तरह २३ अप्रैल, १९३१ के 'यंग इण्डिया' में उन्होंने लिखा था—“जो भारतवर्ष का धर्म परिवर्तन करना चाहते हैं, उनसे यही

कहा जा सकता है कि हकीमजी, पहले अपना इलाज कीजिए।” इसके साथ ही उन्होंने उसी दिन के ‘यंग इण्डिया’ में लिखा था—“यदि वे मिशनरी केवल शिक्षा, गरीबों की डाकटरी सेवा और मानव दया के कामों तक सीमित रहने के बजाय अपने इन कामों का उपयोग धर्म-परिवर्तन के लिए करेंगे तो मैं अवश्य यही चाहूँगा कि वे भारतवर्ष से चले जायें। भारतवासी जिस धर्म में आस्था रखते हैं, निश्चय ही उनके लिए वही पर्याप्त है। भारतवासियों को अपने धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।”

२२ अप्रैल, १९३२ को प्रेमा बहन कण्टक को लिखे एक पत्र में गांधीजी ने कहा था—“धर्म-परिवर्तन को मैं उचित नहीं मानता। मेरा धर्म सच्चा है और दूसरे सब धर्म झूठे हैं, इस तरह की जो मान्यता धर्म बदलने के लिए दिए गये निमन्त्रणों में छिपी रहती हैं, उसे तो मैं दोषपूर्ण मानता ही हूँ, लेकिन जहाँ जबर्दस्ती से या गलतफहमी से या किसी लोभ-लालच में आकर किसी ने अपना धर्म छोड़ दिया हो, वहाँ उस मनुष्य की अपनी गलती सुधारने में, यानी अपने पूर्वजों के असली धर्म में जाने में बाधा नहीं होनी चाहिए। इसे धर्म-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। मेरा धर्म अपूर्ण लगे तो उसे पूर्ण बनाना मेरा फर्ज है, उसमें दोष दिखाई दे तो उसे दूर करना भी मेरा फर्ज है।”

ऊपर कुछ विस्तार से राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों का उल्लेख हमने इसीलिए किया है कि भारत की जनता और वर्तमान भारत सरकार यह समझ ले कि उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा किए जाने वाले धर्मान्तरण को कितनी गम्भीरता से ग्रहण किया था और इस दुष्प्रवृत्ति को छोड़ने का आग्रह किया था। भारत में विद्यमान ईसाई पादरी पोप पाल के आगमन की इस बेला में राष्ट्रपिता के इस आह्वान पर ध्यान दें या न दें, परन्तु इस देश के विशाल जनसमुदाय को तो इस पर विचार करना ही होगा।

महात्मा गांधीजी को कोई उनका कटूर-से-कटूर विरोधी भी

साम्प्रदायिक नहीं कह सकता। परन्तु ईसाइयों द्वारा विए जा रहे धर्मपरिवर्तन के सम्बन्ध में जो स्पष्ट राय उन्होंने दी है, उस पर भारत सरकार ने कभी ध्यान नहीं दिया, यह सबसे अधिक दुःख की बात है। इस बार भारतवर्ष में पोप पाल का आगमन कोई सामान्य घटना नहीं है, बल्कि वह भारत सरकार के एक ऐसे रुख की निशानी है, जो इससे पहले कभी सामने नहीं आया था। अब से २२ वर्ष पहले कथोलिक चर्च के पोप भारत आए थे, परन्तु तब उनकी राजकीय यात्रा नहीं थी। इस बार भारत सरकार ने उन्हें निमन्त्रित किया है। कहा यह गया है कि निमन्त्रण ७ वर्ष पहले दिया गया था। परन्तु इन्दिरा गांधी के रहते वह निमन्त्रण क्रियान्वित नहीं हो सका। अब वह अचानक क्यों क्रियान्वित हो गया, इसके पीछे क्या रहस्य है? कुछ लोग इटली की ईसाई कन्या श्रीमती सोनिया गांधी का नाम इसके साथ जोड़ते हैं। पता नहीं, सत्य क्या है?

१९६४ में जब पोप पाल भारत आए थे तब सिर्फ कुछ आर्य-समाजियों ने और कुछ धार्मिक हिन्दू नेताओं ने ही उनकी आलोचना की थी। इस बार केवल धार्मिक हिन्दू नेताओं द्वारा ही नहीं, किन्तु साम्यवादियों और वामपन्थी कथोलिकों के द्वारा भी आलोचना की जा रही है। इसका कारण क्या है?

रोमन चर्च का अतीत के इतिहास में क्या रोल रहा है, उसको हम दुहराना नहीं चाहते। परन्तु इस युग में, खासतौर से आजादी के बाद, भारत में चर्च की भूमिका ने सबके मन में उसके प्रति सन्देह पैदा कर दिया है। यह ठीक है कि भारत के स्वतन्त्र होते ही ईसाई पादरियों ने अपना बोरिया-बिस्तर गोल करना शुरू कर दिया था। परन्तु जब उन्होंने भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त का समावेश देखा तो उसकी आड़ में उन्होंने न केवल अपने बँधे हुए बिस्तर वापस खोल दिए बल्कि नये हरबे-हथियारों से लैंस होकर वे मैदान में डट गये।

जब भारत जैसा सबसे अधिक कीमती हीरा साम्राज्यवाद के मुकुट में से निकल गया और उसकी देखा-देखी एशिया और अफ्रीका के अन्य देश भी, जो ब्रिटिश साम्राज्य के कभी उपनिवेश रहे थे, बारी-बारी से आजाद होने लगे, तब साम्राज्यवादियों ने अपने पुराने तरीके बदल कर इन सब मुक्त प्रदेशों पर अपना वर्चस्व जमाए रखने के लिए नये उपाय सोचने प्रारम्भ किए। उनका सहज ध्यान ईसाई मिशनरियों की ओर गया और तब धड़ा-धड़ किसी-न-किसी रूप में उनको इन प्रदेशों में भेजा जाने लगा। मध्य प्रदेश और बिहार के आदिवासी क्षेत्रों तथा उड़ीसा के वनवासी लोगों पर इन मिशनरियों ने अपना ध्यान केन्द्रित किया और गरीबों की सहायता के नाम पर, मानवीयकरण की ओट में, औषधियों, वस्त्रों और तरह-तरह की अन्य सुविधाएँ देकर उन्हें धर्मान्तरण के लिए उकसाया गया।

इन गरीब आदिवासी इलाकों के अलावा भारत में ईसाई गति-विधियों के प्रमुख केन्द्र वे प्रदेश रहे हैं, जो सुरक्षा की दृष्टि से काफी नाजुक हैं। सामान्य नागरिक सुविधाओं और यातायात के साधनों से दूर पूर्वांचल की पहाड़ियों में इन ईसाई मिशनरियों ने अपने उद्देश्य में कितनी बड़ी सफलता प्राप्त की है, वह नागालैण्ड और मिजोरम व मेघालय के नाम से उदित नये राज्यों के रूप में देखी जा सकती है। इन पूर्वांचलीय राज्यों में केवल अरुणाचल ही एकमात्र ऐसा राज्य है, जिसने ईसाईयों द्वारा धर्मान्तरण पर कानून बनाकर पाबन्दी लगाई है। सन् १९५६ में नियोगी समिति ने भी मिशनरियों की गति-विधियों पर व्यापक रिपोर्ट देकर सरकार को चेतावनी दी थी। परन्तु धर्म-निरपेक्षता के गलत अर्थ ने सरकार को कोई कारगर कदम नहीं उठाने दिया।

आश्चर्य की बात यह है कि कैथोलिक तन्त्र के विशप और आर्क विशप भारत सरकार से बिना परामर्श लिए नियुक्त किए जाते हैं। चर्च के तन्त्र को इतनी छूट दुनिया के किसी देश में नहीं है। इस छूट

के कारण चर्च के तन्त्र ने जैसे अपनी एक समानान्तर सरकार स्थापित कर ली है और उनकी सरकार को किसी कायदे-कानून का कोई भय नहीं है। जिन दस विदेशी पादरियों को अराष्ट्रीय गतिविधियों के कारण भारत सरकार ने निष्कासन का आदेश दिया था वे इसी समानान्तर सरकार की बदौलत नहीं निकाले जा सके हैं। ईसाई मिशनरियों ने भारत में जिस प्रकार अपना पंजा फैलाया है; उससे चिन्तित होकर स्वयं श्रीमती गांधी ने सन् १९७५ में वैटिकन के पोप को एक प्रस्ताव भेजा था, जिसमें तन्त्र के विस्तार के सम्बन्ध में कुछ विधि-विधान तैयार करने की बात सुझाई गई थी। भगव पोप हमेशा उसे टालते रहे।

किसी भी राजकीय अतिथि के भारत में आने पर यह संहिता बनी हुई है कि वे यहाँ आकर किसी धार्मिक आयोजन में भाग नहीं ले सकते। परन्तु महात्मा गांधी की समाधि पर माल्यार्पण के सिवाय, वर्तमान पोप पाल के शेष सारे कार्यक्रम केवल धार्मिक ही हैं। भारत सरकार की यह कैसी धर्म-निरपेक्षता है? कोई भी सरकार से यह पूछना चाहेगा कि विश्व हिन्दू परिषद् के निमन्त्रण पर नेपाल नरेश को भारत न आने देना और ईसाईयों के धर्माध्यक्षों को स्वयं भारत आने के लिए आमन्त्रित करना धर्म-निरपेक्षता की कौन-सी परिभाषा में शामिल है?

इस समय पश्चिम के समस्त साम्राज्यवादी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए जहाँ उद्योग-व्यापार में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश के लिए तत्पर हैं, वहाँ दूसरी ओर इन ईसाई मिशनरियों के माध्यम से भी साम्राज्यवादी मनसूबों को पूरा करने में लगे हैं। पोप पाल उसके सबसे बड़े निमित्त हैं।

भारत के विशाल हिन्दू समाज से हम कहना चाहते हैं कि यदि इस षड्यन्त्र को उसने नहीं समझा तो इस देश का भविष्य अन्धकार-मय है। सरकार भले ही अपने जाल में खुद फँसी होने के कारण

इतनी दूर तक न सोच पाये, लेकिन हम जनता-जनार्दन के सामने एक नग्न सत्य स्पष्ट रूप से कहना चाहते हैं। वह सत्य यह कि जिस प्रदेश में हिन्दुओं का बहुमत घटता गया, वही प्रदेश भारत से कटता गया।

पोप पाल के आगमन पर अनेक हिन्दू संगठनों ने अपना प्रतीकात्मक विरोध अवश्य प्रकट किया है और सरकार को ज्ञापन भी दिया है। परन्तु जैसे यह एक क्षणिक उबाल है। उसके बाद अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ कर ये सब हिन्दू संगठन फिर सो जायेंगे। भारत का ८५ प्रतिशत हिन्दू समाज सोता रहेगा और पोप पाल की सेना नया मनोबल प्राप्त करके मोर्चे पर आगे बढ़ती रहेगी। आदिवासी इलाकों और पूर्वाचलीय प्रदेश की जनता इसी प्रकार इन मिशनरियों की चरागाह बनी रहेगी।

हम पूछते हैं कि भारत के सारे हिन्दू यदि अब भी संगठित नहीं होंगे, तो और कब होंगे? हम शंकराचार्यों से भी कहना चाहते हैं कि अपने स्वर्ण सिंहासनों से नीचे उतर कर मैदान में आओ और समस्त हिन्दू समाज को इस धर्मान्तरण की आँधी से बचाओ। तिरुपति के तथा अन्य मन्दिरों के देवताओं को ५-५ करोड़ रुपये के मुकुट पहनाने वाले आस्थावान् हिन्दुओं से भी कहना चाहते हैं कि हरिजनों और आदिवासियों की अब तक तुमने जो उपेक्षा की है, उसका दण्ड बहुत भोग चुके। अब यदि तुमको अपनी भी रक्षा करनी है तो इन उपेक्षित वनवासियों और गिरिजनों के लिए अपनी थैलियाँ खोलो। हम सब युवकों से भी कहना चाहते हैं कि इस समय देश का भविष्य आदिवासी जंगलों और पहाड़ों में छिपा पड़ा है। अगर तुम उनकी सुध लेने के लिए अपना जीवन नहीं लगाओगे तो हिन्दू समाज के सोये पड़े रहने की जिम्मेवारी सबसे अधिक तुम्हारे ऊपर ही होगी। विदेशी साम्राज्यवादियों के बड़्यन्त्रों को विफल करने के लिए समस्त हिन्दुओं के संगठित होने का यही अंवसर है।

## एक महान् आन्दोलन

किसी राष्ट्र के इतिहास में सौ वर्ष का भले ही कोई विशेष महत्व न हो, किन्तु किसी आन्दोलन के इतिहास में एक शताब्दी पूरी होने का महत्व नगण्य नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से आर्यसमाज के आन्दोलन को नापें तो उसने पिछले १०० वर्षों में देश-विदेश में जितनी प्रगति की है, उसे अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है।

इस 'अभूतपूर्व' शब्द के प्रयोग को कुछ लोग अतिशयोक्ति समझ सकते हैं, परन्तु यदि आर्यसमाज के साथ, बल्कि उससे भी पहले जन्म लेने वाले समकालीन आन्दोलनों पर भी ध्यान दिया जाय तो हमारा कथन शायद अतिशयोक्ति के बजाय हीनोक्ति ही प्रतीत हो। आज ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और देवसमाज के नाम से चले आन्दोलनों की क्या स्थिति है? उनके नाम लेवाओं की संख्या कितनी है? उनके नाम पर पानी देने वाले लोग मुश्किल से उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। आखिर कुछ तो कारण है कि इतने जोर-शोर से और बहुत भले व्यक्तियों द्वारा चलाये गए ये आन्दोलन आज नामशेष होने की स्थिति में पहुँच गए। उन आन्दोलनों की नींव बहुत केमज़ोर थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि वे राष्ट्रीयता के ओज से सर्वथा अचूते थे, इसीलिए वे राष्ट्र की आत्मा को नहीं छू पाये।

जो बात आर्यसमाज के बारे में कही जा सकती है, वहुत-कुछ वैसी ही बात आर्यसमाज के अन्तर्गत ही चले उस शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन के विषय में कही जा सकती है, जिसे आज लोग 'डी० ए० वी०' के नाम से जानते हैं। सन् १८८३ में जब ऋषि दयानन्द

परलोक प्रयाण कर गये तब उनके अनुयायियों ने ऋषि द्वारा जगाई गयी ज्वाला को जाग्रत रखने के लिए और उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए डी० ए० वी० आन्दोलन को जन्म दिया ।

उस समाज के आर्य नेताओं ने बड़ी गहराई से अनुभव किया कि अंग्रेजों ने सारे भारत को मानसिक दृष्टि से गुलाम बनाने के लिए शिक्षा के माध्यम से जो अभियान चलाया है उससे आने वाली समस्त पीढ़ियाँ अनिवार्य रूप से ब्रिटिश दासता को वरदान समझने वाली पैदा होंगी । वैसे भी मनुष्य के निर्माण की नींव बचपन में ही रखी जा सकती है । इसलिए उन नेताओं ने दयानन्द के नाम के साथ एक शिक्षा आन्दोलन को जन्म दिया । उनको अपनी निष्ठा और आस्था में विश्वास था । विश्वास पर्वतों को हिला सकता है तो राष्ट्र को और समाज को क्यों न हिलाता ।

यह आन्दोलन पंजाब से शुरू हुआ । पंजाब से ही क्यों, इसके लिए भी थोड़ा इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा । सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के पश्चात् जब अंग्रेजों ने वैसी ही किसी भावी राज्यक्रान्ति को टालने के लिए सबसे पहले कलकत्ता और फिर मद्रास में मैकाले की शिक्षापद्धति के अनुसार स्कूल और कालेज खोलने शुरू किये, तब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीरे उन्होंने पंजाब के महत्व को समझना शुरू किया । सन् १८५७ तक ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में भर्ती होने वाले अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग थे । परन्तु सन् १८५७ के विद्रोह में सबसे आगे बढ़कर हिस्सा लेने वाले भी वे ही लोग थे । तब पंजाब की सब सिंख रियासतों ने निरपवाद रूप से अंग्रेजों का साथ दिया था । तभी अंग्रेज उस राज्यक्रान्ति को कुचलने में समर्थ हुए थे । उसके बाद उनकी सेना के लिए अधिक-से-अधिक जवान पंजाब से ही भर्ती किये जाने लगे । अंग्रेजों ने पूर्वी या पश्चिमी भारत के लोगों को अविश्वास की दृष्टि से देखना शुरू किया और उनको अपनी ओर से सर्वथा निःसहाय घसियारा

बनाने का प्रयत्न किया। मौरीशस, केनिया, दक्षिण अफ्रीका, ब्रिटिश गयाना, फ़ीजी और सूरीनाम आदि देशों में गिरमिटिये (अर्द्ध गुलाम) बनाकर जिन लोगों को ले जाया गया, वे यही पूर्वी यू० पी० व पश्चिमी बिहार के लोग थे। उन लोगों ने वहाँ जाकर अपने परिश्रम से और अपने धर्म के प्रति गहरी आस्था के कारण भले ही आज कुछ समृद्धि प्राप्त कर ली हो, परन्तु अंग्रेजों ने उनके साथ अफ्रीका के गुलामों जैसा ही व्यवहार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। बिहार और उत्तर प्रदेश को सोखने और पंजाब को सब तरह से सींचने की प्रवृत्ति तभी से चली।

अंग्रेज सोचते थे कि किसी तरह सारा पंजाब अगर ईसाई बन जाय तो भारत पर चिरकाल तक निविधि शासन करने का उनको पट्टा मिल जायेगा। इसलिए पंजाब के पढ़े-लिखे लोगों को ईसाईयत की और झुकाने के लिए विशेष ध्यान दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब के शिक्षित वर्ग पर धीरे-धीरे ईसाईयत की श्रेष्ठता का और ब्रिटिश शासन के वरदान का सिक्का बैठता जा रहा था। अंग्रेजों का वह षड्यन्त्र पूरा हो जाता, यदि उस युग में ऋषि दयानन्द ने जन्म न लिया होता, पंजाब में उनका पदार्पण न हुआ होता और आर्यसमाज की दागबेल पंजाब में न जमी होती। अंग्रेजों के इसी स्वप्न को पंजाब में चकनाचूर करने का यदि किसी को श्रेय दिया जा सकता है तो आर्य समाज के इस डी० ए० वी० आंदोलन को।

जिस जमाने में अंग्रेज लोग खालसा कालेज स्थापित कर रहे थे, और उसका प्रिंसिपल अंग्रेज को ही बनाकर सिखों को अपनी और पढ़ाने में लगे हुए थे, उसी युग में डी० ए० वी० आंदोलन अपने सारे स्टाफ में किसी भी अंग्रेज को बिना रखे, दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था और पंजाब की जनता में एक नई राष्ट्रीय चेतना भरता जा रहा था। अंग्रेजों की सहायता के बिना भी कोई स्कूल और कालेज सफल हो सकता है, उस समय यह कल्पना ही कठिन

थी। जितने भी स्कूल खोले जाते थे, सबका हैड मास्टर अंग्रेज ही होता था। जून सन् १८८६ में जब सबसे पहला डी० ए० वी० स्कूल खुला तब उसका हैड मास्टर कोई अंग्रेज नहीं, एक हिन्दुस्तानी बना। उस युग में यह अनहोनी बात थी। उस व्यक्ति ने यावज्जीवन अवैतनिक सेवा करने का ब्रत लिया। उस महामानव का नाम था—महात्मा हंसराज। उसके बाद तो ऐसे अनेक जीवनब्रती लोगों की श्रृंखला आगे आती गयी जिन्होंने अपने श्रम के जल से इस पौधे को सींचकर महान् वटवृक्ष का रूप दे दिया।

पंजाब के विभाजन के पश्चात् एक बार तो यह खतरा पैदा हो गया था कि अब शायद डी० ए० वी० संस्थाएँ इस आघात को सह नहीं पायेंगी और यह आन्दोलन जिस तेजी से उभरा था, उसी तेजी से सिमट जायेगा। परन्तु जिस तरह भारत के सांस्कृतिक वटवृक्ष में यह विशेषता छिपी हुई है कि उसकी एक-एक शाखा अलग से वटवृक्ष का रूप धारण करती जाती है, उसी तरह स्वतन्त्र भारत में इस डी० ए० वी० आन्दोलन का जितना विस्तार हुआ, उससे उसके प्रशंसक और विरोधी दोनों ही चकित रह गए। आज निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि भारत सरकार को छोड़कर इतना बड़ा शिक्षा प्रतिष्ठान सारे देश में और कोई नहीं है।

डी० ए० वी० नाम में ही कुछ ऐसा जादू है कि अब धीरे-धीरे देश के हरेक राज्य में डी० ए० वी० के अन्तर्गत विद्यालय खोलने की जैसे होड़ लगी हुई है। और तो और, यह भी इसी नाम का जादू है कि कुछ संस्थाएँ, जिनका डी० ए० वी० आन्दोलन से दूर का भी वास्ता नहीं है, वे भी अपनी संस्थाओं के नाम के आगे डी० ए० वी० का नाम जोड़कर अपनी दुकान चला रही हैं। डी० ए० वी० संस्थाओं में वह कौन-सी विशेषता है, जिसके कारण आज सब स्थानों से डी० ए० वी० स्कूलों की माँग आ रही है। यह बहस का विषय नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है। कभी छात्रों की हड़ताल, कभी

शिक्षकों की हड़ताल और अनुशासन-हीनता का अनवरत दौर-दौरा —आज जहाँ अन्य शिक्षा-संस्थाओं का यह विरुद्ध है, वहाँ डी० ए० वी० संस्थाओं के सम्बन्ध में कभी किसी ने नहीं सुना होगा कि आज वहाँ के छात्रों ने हड़ताल की और कल वहाँ के शिक्षकों ने हड़ताल कर दी। असल में शिक्षा संस्था चलाना निरन्तर साधना का काम है और अगर शिक्षा संस्थाओं में उस कोटि के निष्ठावान लोग न हों तो शिक्षा संस्थाएँ भी किसी व्यापारिक कम्पनी की दुकानें मात्र बन कर रह जाती हैं।

डी० ए० वी० आन्दोलन के सामने अंग्रेजों की मानसिक गुलामी को दूर करने का जो लक्ष्य है, वह कितना बड़ा है, और अभी इस आन्दोलन को आगे क्या करना है, उसके लिहाज से कुछ आँकड़े देना ठीक होगा। इस समय सारे भारत में ईसाई पादरियों के द्वारा जो स्कूल चलाए जा रहे हैं, उसमें कितने छात्र पढ़ते हैं, जरा इसका विवरण देखिए; उनके नर्सरी स्कूलों में २७ हजार बालक हैं, प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में २०-२० लाख छात्र हैं और कालेजों में करीब दो लाख छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। जब तक भारत में मानसिक दासता के ये गढ़ मौजूद हैं, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि डी० ए० वी० आन्दोलन अपने लक्ष्य तक पहुँच गया।

डी० ए० वी० एक महान् आन्दोलन है। परन्तु जितना यह महान् है, उससे भी अधिक महान् चुनौती भविष्य में उसकी प्रतीक्षा कर रही है। इस आन्दोलन की शताब्दी का यह वर्ष नये उत्साह और नई उमंग से उस चुनौती का सामना करने का सामर्थ्य प्रदान कर सके। डी० ए० वी० शताब्दी समारोह के प्रथम विशेष कार्यक्रम के रूप में १५ फरवरी की विशाल शोभायात्रा उसी नए अभियान की शुरुआत है। आर्यजनता के लिए अभी विश्राम का समय नहीं आया। बन्धुओ ! पर्वत के जिस शिखर पर तुम पहुँच चुके हो, आगे उससे भी और ऊँचे शिखर विद्यमान हैं। [१६ फरवरी, १९८६]

## आर्यों की मर्यादा

आर्यसमाज की अपनी एक मर्यादा है और वह मर्यादा इसके नाम में ही छिपी हुई है। जिस 'ऋत गतौ' धातु से आर्य शब्द बनता है, उसी से वैदिक साहित्य का 'ऋत' शब्द भी बनता है। ऋत शब्द के कारण ही यह स्पष्ट होता है कि केवल गति होना ही काफी नहीं है परन्तु उस गति को नियमित और अनुशासित भी होना चाहिए। इसके अलावा आर्य शब्द की जो दूसरी व्युत्पत्ति 'अर्यस्यापत्यं आर्यः' की जाती है, उसका अर्थ है कि अर्य की सन्तान ही आर्य है। अर्य कौन है, इसके लिए पाणिनि व्याकरण का सूत्र 'अर्यः स्वामी वैश्ययोः' का उल्लेख आवश्यक है। अर्य उस परमात्मा का वाचक है जो सब जगत का स्वामी है। उसका पुत्र होना ही आर्यत्व की निशानी है और इसीलिए कहा जाता है—'आर्यः ईश्वर पुत्रः।' अर्थात् आर्य वे हैं, जो ईश्वर के पुत्र हैं। ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड का नियामक है, स्वयं सृष्टि के नियमों का रचयिता है। उसकी इच्छा के बिना सृष्टि का एक कण भी इधर से उधर नहीं हो सकता। यह पृथ्वी, समस्त ग्रह-उपग्रह और असंख्य तारा-मण्डल जिस प्रकार परमात्मा के अनुशासन में बँधे हुए गति करते हैं, वह सृष्टि का सबसे बड़ा चमत्कार है। इसी चमत्कार को देखकर ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, क्योंकि उसके बिना इस विशाल सृष्टि-चक्र को इतने अनुशासित और नियमित ढंग से चलाना किसी और शक्ति के वश की बात नहीं है।

अब रहा 'समाज' शब्द। संस्कृत के पण्डित लोग जानते हैं कि 'समाज' और 'समज' दो शब्द हैं। दोनों एक ही धातु से बनते हैं। दोनों का अर्थ है—समूह। परन्तु 'समज' शब्द केवल पशुओं के समूह

के लिए प्रयुक्त होता है और समाज शब्द मनुष्यों के समूह के लिए। शब्दों का ऐसा सूक्ष्म विवेचन संसार की किसी और भाषा में है, यह हम नहीं जानते। परन्तु संस्कृत में है, यह तो स्पष्ट ही है।

अब 'आर्यसमाज' में आये 'आर्य' और 'समाज' इन दोनों शब्दों की संक्षिप्त विवेचना के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्यसमाज की मर्यादा से हमारा क्या अभिप्राय है। आर्यसमाज ऐसे श्रेष्ठ प्रगतिशील और अनुशासनबद्ध जनों का समाज है ('समज' या 'रेवड़ नहीं) जो सदा व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय हितों के लिए तत्पर रहते हैं, वेदों द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं का पालन करते हैं और सदा अनुशासन में रहकर संसार की उन्नति में अपनी उन्नति समझते हैं।

इसी १५ फरवरी को डी० ए० वी० शताब्दी के सम्बन्ध में जो विशाल शोभा यात्रा निकलने वाली थी, उसके लिए जिस विराट पैमाने पर तैयारियाँ को गई थीं, उनको देखकर उसे अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। आर्यजनों का उत्साह भी दर्शनीय था। बाहर से आने वाले यात्री कितनी बड़ी संख्या में आ रहे थे, इसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि अकेले अशोक विहार में १४ फरवरी की शाम तक ५० हजार व्यक्ति पहुँच चुके थे। लगभग एक हजार बसें बाहर से आने वाली थीं। स्वयं दिल्ली की जनता में भी इस शोभा यात्रा के लिए अपूर्व उत्साह था। इस सारे विराट आयोजन को देखकर शायद विघटनकारी तत्त्व मन-ही-मन विचलित हो उठे। हालांकि शोभायात्रा का सम्बन्ध किसी प्रकार की राजनीति से नहीं था। एक शिक्षा सम्बन्धी महान् आन्दोलन की शताब्दी के सिलसिले में यह शोभा यात्रा निकलने वाली थी। परन्तु जिस उत्साह से आर्य और हिन्दू जनता इस शोभायात्रा की तैयारी में भाग ले रही थी, उससे हिन्दुओं के संगठन का और शक्ति का कुछ-न-कुछ आभास तो मिलने ही वाला था।

आज की राजनीतिक परिस्थिति में जिस प्रकार इस देश के विशाल बहुमत की उपेक्षा हो रही है और अल्पसंख्यकों को सिर पर चढ़ाया जा रहा है, उसके विरोधस्वरूप अब धीरे-धीरे हिन्दू समाज में भी जो चेतना आने लगी है, उसका एक छोटा-सा प्रतीक होती यह शोभायात्रा । परन्तु जिनको हिन्दुओं के बहुसंख्यक होने का भय अन्दर-ही-अन्दर सताता रहता है, उनके लिए सबसे बड़ा आश्वासन यही है कि यह विशाल हिन्दू-समाज बिखरा हुआ है, परस्पर बैटा हुआ है, विभिन्न सम्प्रदायों में विकीर्ण है और कहीं किसी एक मंच पर यह संगठित नहीं है । इसका यह संगठित न होना ही उनके लिए सबसे बड़ा वरदान है । यदि किसी दिन इस देश का यह ८५% बहुसंख्यक समाज संगठित हो जाये, तो उस दिन की कल्पना करते ही हमारे अल्पसंख्यक बन्धु तिलमिलाने लगते हैं और उनके पेट का पानी हिलने लगता है । वे अपनी ओर से हमेशा यही खैर मनाते रहते हैं कि हिन्दू नाम का यह विशाल अजगर सदा सोया रहे । अचानक कभी अँगड़ाई लेते हुए इसको देख लें तो वे चौकन्ने हो जाते हैं ।

चींटियों के विलों पर चीनी डालने वाला, कबूतरों को दाना चुगाने वाला तथा अहिंसा को परम-धर्म मानने वाला यह हिन्दू समाज अपनी सहिष्णुता के लिए विख्यात है । इस सहिष्णुता का दण्ड भी इतिहास में इसने खूब भोगा है । परन्तु यदि चरण के प्रहार से आहत रजकण भी सीधा सिर पर सवार होने को ऊपर उठ सकता है तो सहिष्णुता के लिए विख्यात यह हिन्दू समाज कब तक उस रजकण से भी गयाबीता बना रहेगा ? जब-जब नये जीवन का इन्जेक्शन देने के लिए कोई महापुरुष आता है तो यह विराट-हिन्दू समाज तनिक अँख खोलकर देखता है । कभी करवट लेता है और कभी उठकर खड़े होने के लिए अँगड़ाई भी लेने लगता है । इसको अँगड़ाई लेते देखकर ही पड़ौसी घबराने लगते हैं । हालांकि वह भय केवल काल्पनिक होता है, परन्तु जब किसी के मन में ही चोर बैठा हो तब उसका क्या इलाज

है ? इस काल्पनिक भय से ग्रस्त लोग विभिन्न प्रकार की अराष्ट्रीय गतिविधियों के द्वारा अपनी मानसिक बेचैनी प्रकट करने पर उतारू हो जाते हैं और धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त की आड़ में खुलकर खेलते हुए सरकार के लिए सिर दर्द बन जाते हैं । वे कोई-न-कोई बहाना तलाश करते हैं, अपने मानसिक भय को विघटनकारी प्रवृत्तियों की मार्फत उजागर करने का ।

अभी शाहबानो काण्ड की राख ठण्डी नहीं हुई थी कि कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं को एक और बहाना मिल गया । राम जन्मभूमि का ताला क्या खुला, इन मुल्ला-मौलवियों की नकाबों का ताला खुल गया । जगह-जगह हिंसक उपद्रव शुरू हो गये । १४ फरवरी को हुआ दिल्ली का दंगा उसी शृंखला की एक कड़ी है जो लखनऊ, बदायूं, मेरठ और बिजनौर जिले की हिंसक घटनाओं में भी देखी जा सकती है । केवल कट्टरपंथी मुल्ला-मौलवी ही नहीं, बल्कि १३ फरवरी को उत्तर प्रदेश की विधान सभा में ६ मुस्लिम विधायकों ने तथा जनता पार्टी के महामन्त्री और संसद सदस्य सैयद शाहबुद्दीन ने जो रुख अपनाया है, उससे ऐसा लगता है कि वे मुसलमानों की भावनाओं को भड़का कर जहाँ कांग्रेस से अपना हिसाब चुकता करना चाहते हैं, वहाँ हिन्दू समाज के मन में भी दहशत बिठा देना चाहते हैं कि खबरदार, जो तुमने अँगड़ाई ली ।

अल्पसंख्यकों की इस घिनौनी राजनीति का व्या परिणाम हो सकता है, यह शायद वे नहीं सोचते । यदि इस देश में न्यायालयों और लोकतान्त्रिक व्यवस्था का इसी तरह मजाक बनाया जाता रहा तो इससे देश का जो अहित होगा, सो तो होगा ही परन्तु इससे स्वयं अल्पसंख्यकों का कितना अहित होगा, यह शायद वे नहीं सोचते । अल्पसंख्यकों की इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया धीरे-धीरे अब देश में हिन्दुत्व चेतना के जागने में दिखने लगी है । यह जहाँ हिन्दुओं के लिए एक शुभ लक्षण है, वहाँ अल्पसंख्यकों के लिए उतना ही अशुभ भी । लगता

है कि १५ फरवरी को विशाल शोभा-यात्रा के आयोजन को हिन्दुत्व की संगठन-शक्ति का प्रतीक समझ कर उससे एक दिन पहले १४ फरवरी की दोपहर को दिल्ली के मुसलमानों ने शायद इसीलिए उपद्रव करने पर कमर कस ली। इसीलिए उस दिन २५ हजार से भी अधिक मुसलमान जामा मस्जिद में एकत्रित हुए जबकि आमतौर पर वहाँ ४-५ हजार से अधिक जुम्मे के नमाज में शामिल नहीं होते। १४ फरवरी को भी शुक्रवार ही था। इमाम साहब को मौका मिल गया और उन्होंने घोषणा कर दी कि—राम जन्मस्थान का ताला अगर नहीं लगा तो हम नहीं जानते कि देश में क्या खून-खराबा हो जायेगा। इससे पहले दिल्ली की गंलियों में जिस तरह मुसलमानों को मौलवी औबेदुल्ला वाला टेप सुनाया जाता रहा, उसने भी मुसलमानों के मन में कम जहर नहीं खोला। ऊपर से इमाम साहब का फतवा ! फिर क्या था, मुसलमान नौजवान सड़कों पर निकल पड़े। दो मन्दिरों की मूर्तियों को तोड़ने का प्रयत्न किया गया, जबरदस्ती शहर की दुकानें बन्द करवाई गईं और पुलिस पर पथराव किया गया। तब लाठी चार्ज और गोली चलाने के बाद पुलिस कर्फ्यू न लगाती तो और क्या करती।

ऐसी हालत में राष्ट्र के व्यापक हितों को लक्ष्य में रखते हुए आर्य-समाज भी अपनी शोभा-यात्रा को स्थगित न करता तो क्या करता। ऐसे समय निर्णय करना कठिन होता है। परन्तु जो विपत्ति में धैर्य नहीं खोते, वही तो आर्यों की मर्यादा का सही पालन करते हैं। हजारों आर्यों ने इस शोभा-यात्रा के स्थगित होने पर जिस अनुशासन का परिचय दिया, वह भी उतना ही अद्भुत था, जितना कि शोभा-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए उत्साह अद्भुत था। बन्धुओ, यह निराश होने का अवसर नहीं, अपनी शक्ति और संगठन बल को उचित अवसर पर प्रदर्शित करने के लिए सुरक्षित रखने का अवसर है। यही आर्यों की मर्यादा है।

## शिव की प्रतिमा पर चूहे

शिवरात्रि के अवसर पर १४ वर्ष की किशोरावस्था के बालक मूलशंकर के साथ टंकारा के शिव मन्दिर में जो घटना घटी थी, वह परिमाण में कितनी ही छोटी क्यों न हो, परिणाम में उतनी ही बड़ी है। उस दिन उस बालक ने निभृत निशीथ वेला में शिव की प्रतिमा पर चूहों को अवांछनीय उछल-कूद करते देखा तो उसके मन में जो गहन जिज्ञासा उत्पन्न हुई, उसने जैसे उसके ज्ञान के कपाट खोलने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अगर वह घटना न घटी होती तो मूलशंकर शंकर के मूल को न पहचान पाता और केवल दयालजी के घरेलू नाम से परिचित रहकर अपना सारा जीवन व्यतीत कर देता। उस दिन बालक मूलशंकर के मन में जो आत्मवोध का अंकुर उगा उससे जहाँ वह शंकर के मूल को पहचानने में समर्थ हुआ, वहाँ शिव की प्रतिमा पर उछल-कूद मचाने वाले चूहों की भी असलियत को जानने में समर्थ हो सका।

भारतीय वाङ्मय में शिव के रूप को लेकर जितने कल्पना-जाल का विस्तार हुआ है, उतना शायद किसी अन्य देवता के रूप को लेकर नहीं। शिव के साथ त्रिदेव के रूप में शामिल ब्रह्मा तो केवल वेदों के आदि पुरस्कर्ता मात्र रह गए। परन्तु विष्णु अपने दस अवतारों के माध्यम से अनेक पौराणिक कथाओं के केन्द्र बने। राम और कृष्ण भी विष्णु के ही अवतारों में माने जाते हैं और इन दोनों दिव्य महापुरुषों के नाम पर कुछ संप्रदायों का भी निर्माण हुआ है। परन्तु शिव के साथ महायान से लेकर वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान आदि वाम-मार्ग से उपजे तन्त्रयान और शाक्त मार्ग तक के इतने रूप जुड़े हैं कि

प्राचीन भारत का अध्ययन करने वालों के लिए उन सबके स्वरूप को आज हृदयंगम करना भी कठिन हो गया है। अन्त में इन यारों के माध्यम से राष्ट्र के स्तर पर शिव का एक और रूप भी उभरा है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु विद्वानों ने प्रायः उस पर ध्यान नहीं दिया। एक कवि ने शिव के रूप का वर्णन करते हुए कहा है—

पिनाक-फणि-बालेन्दु-भस्म-मन्दाकिनी युता।

पर्वर्गं रचिता मूर्तिः अपर्वर्गं प्रदास्तु नः ॥

अर्थात् धनुष, सांप, चन्द्रमा, शरीर पर भस्म, और मस्तक पर गंगा—इन पांच पकारादि (पिनाक, वेणी, बालेन्दु, भस्म, मन्दाकिनी—ये पांचों शब्द प, फ, ब, भ, म से शुरू होते हैं) वर्ग से बनी यह मूर्ति हमको अपर्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्रदान करे। पर्वर्ग से रचित मूर्ति अपर्वर्ग प्रदान करे, इसमें जो प्रतीपालंकार है, उसे साहित्य के रसिक जन ही ग्रहण कर पायेंगे। परन्तु जिस बात की ओर हम ध्यान खींचना चाहते हैं, वह इस पर्वर्ग रचित शिव मूर्ति के प्रतीकार्य से संबन्धित है।

जिन पांच चीजों से यह शिव की मूर्ति बनी है, यदि उन पर गंभीरता से विचार करें तब वह मूर्ति किसी व्यक्ति की नहीं, बल्कि एक देश की मूर्ति के रूप में उभर कर सामने आती है। सारे संसार में रामायण, महाभारत से लेकर आज तक धनुर्विद्या के लिए भारत के सिवाय और कौन-सा देश प्रसिद्ध रहा है? जहाँ तक सांपों का सम्बन्ध है, उसके बारे में आज भी सारा पाश्चात्य जगत भारत को 'सांपों के देश' के रूप में जानता है। रहा बालेन्दु, जितनी सुन्दर चांदनी भारत के आकाश में खिलती है, अन्य देशों के लोग शायद उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। और भस्म? यह केवल साधुओं के शरीर पर रमायी जाने वाली भभूत की भी द्योतक हो तो ऐसे भस्मांचित शरीर वाले साधु भारत के सिवाय संसार में और कहाँ

मिलेंगे ? पवर्ग रचित इस मूर्ति का अन्तिम शब्द है, मन्दाकिनी अर्थात् गंगा । इसने तो जैसे शिव मूर्ति के सारे रहस्य को ही अनावृत कर दिया ।

गंगा भारत के सिवाय और कहाँ है ? पौराणिक अनुश्रुति है कि शिवजी के सिर से गंगा निकलती है । शायद पुराण-कर्त्ताओं ने अपनी उक्ति को उलटबांसी का रूप देने के लिए कह दिया कि शिवजी के सिर से गंगा निकलती है । अगर अपनी बात को वे सीधे ढंग से कहते तो यों कहते—‘जिसके सिर से गंगा निकलती है, वह शिव है’—तो हम अपने पाठकों से ही प्रश्न करते—आखिर गंगा कहाँ से निकलती है ? हिमालय से ही तो । अगर हिमालय भारत का सिर नहीं है तो और क्या है ? आखिर इकबाल ने उसको—‘वह पासवां हमारा, वह सन्तरी हमारा’ यों ही तो नहीं कहा था । और शिवालक क्या है ? शिवालक नामक हिमालय की पर्वत श्रेणी शिव की अलकाएँ (शिव+अलक=शिवालक) ही तो है । इसी भारत के मस्तक-स्वरूप हिमालय के जटाजूट से गंगा निकलती है, क्या इसमें किसी को सन्देह है ? शिव के सिर से गंगा निकलने की कल्पना कितनी ही मनोहारी क्यों न हो परन्तु वह एक ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्य का जिस रोचक ढंग से वर्णन करती है वह भारतीय मनीषा की उर्वरता और महनीयता की द्योतक है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिव और भारत दोनों पर्यायिवाची हैं । शिव की मूर्ति के रूप में कवियों और चिन्तकों ने उसका जो रूप कल्पित किया है, वह एक तरह से उस युग में भारत के भौगोलिक रूप का परिचय देने की एक साहित्यिक शैली है । बालक मूलशंकर ने शिव की मूर्ति पर चूहों को उछलकूद मचाते देखकर जो मन में वित्तृष्णा भरी जिज्ञासा जगाई थी, वह क्या केवल टंकारा के उस शिव मन्दिर की छोटी-सी परिधि तक ही सीमित थी ? क्या वह शिव सारे भारत का पर्यायिवाची नहीं था ? और क्या उस समय इस

भारत रूपी शिव के मस्तक पर विधर्मी और विदेशी चूहे अवांछनीय उछल-कूद नहीं मचा रहे थे ? और क्या बालक मूलशंकर ने अपना सारा यौवन भारत की नदियों, भारत के पर्वतों, भारत के वनों और भारत की मरुभूमियों का वर्षों तक अवगाहन करके शिव और चूहे के इस प्रतीकार्य को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं किया था ?

अगर शिवरात्रि की उस बचपन की घटना ने बाल्यावस्था से यौवन अवस्था को प्राप्त दयानन्द के मन में शिव और चूहों का यह व्यंजितार्थ प्रकट नहीं किया था तो इतना उग्र राष्ट्रबोध उसके मन में कहाँ से समा गया ? क्रृषि दयानन्द का वेदवाद जितना प्रबल है, उससे कम प्रबल उसका राष्ट्रवाद नहीं है। उसने एक हाथ में वेद और दूसरे हाथ में राष्ट्र को लेकर ही इस भारत-रूपी शिव के सच्चे कल्याण स्वरूप की कल्पना की थी। उसके आत्मबोध की परिणति इसी राष्ट्रबोध में हुई थी। इसीलिए उसका राष्ट्रवाद इतना तेजस्वी है, जितनी अन्य किसी नेता में दुर्लभ है।

बालक मूलशंकर के जीवन में घटित घटना को आज लगभग पौने दो सौ वर्ष की अवधि बीत चुकी है। परन्तु इतिहास सदा समय-समय पर अपने-आपको दुहराता रहता है। कभी किसी रूप में, कभी किसी रूप में। घटनाएँ बदल जाती हैं, उनका स्वरूप भी बदल जाता है, परन्तु उनका गम्भित अर्थ कभी नहीं बदलता। हम पूछते हैं कि क्या आज इस भारत रूपी शिव के मस्तक पर चूहे उछल-कूद नहीं मचा रहे हैं ? उछल-कूद ही क्यों, क्या वे इसके अंग-अंग को कुतरने पर उतारू नहीं हैं ? आखिर क्या कारण है कि कुछ समय तक बिलों में घुसे रहने के बाद भारत में विघटनकारी तत्त्व पुनः-पुनः सिर उठाने लगते हैं और उसको कुतरना प्रारम्भ कर देते हैं ? यही न; कि शिव के हाथ में त्रिशूल होते हुए भी वह जड़ मूर्ति बना हुआ है। अपने सिर पर उछल-कूद करने वाले चूहों को भगाता नहीं। बल्कि अपनी मूर्ति पर चढ़े प्रसाद और नैवेद्य को खाने की उन्हें छूट देता

है। यह भारत रूपी शिव का जड़त्व नहीं तो क्या है?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आशा थी कि यह शिव-स्वरूप भारत अपनी जड़ता को छोड़कर पुनः त्रिशूलधारी चेतन स्वरूप धारण करेगा। परन्तु इसके नेताओं ने शायद राष्ट्र के उस रूप का दर्शन नहीं किया जिस रूप का दर्शन कृषि दयानन्द ने किया था। कृषि दयानन्द ने भारत के जिस शिव रूप की कल्पना की थी, उसका आधार वह विचारधारा थी जो सृष्टि के आदि से लेकर हजारों वर्षों तक आर्यवित्त की अस्मिता का कारण बनी रही। कृषि ने उसके लिए एक वाक्य खण्ड लिखा है—‘ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि पर्यन्त’। कृषि दयानन्द इस भारत को उसी आर्यवित्त की ओर ले जाना चाहते थे, उसका निर्माण ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि तक कृषि-महर्षि अपने ज्ञान और बलिदान से करते आये थे। आज का नेतृ-वर्ग न उस भारत को पहचानता है न उसकी अस्मिता को। इसीलिए वह चूहों को उछल-कूद करने की खुली छूट देता है। क्या इतनी खुली छूट देश का अंग-अंग कुतरने वाले चूहों को किसी और देश ने भी दी है?

कारण-स्पष्ट है। भारत के चारों ओर जितने देश हैं, वे या तो तानाशाही के शिकार हैं, या कम्यूनिज्म को अपना चुके हैं। इसीलिए वहाँ धर्म के नाम से देश-द्रोहिता का मकसद पूरा करने वाले किन्हीं चूहों को छूट नहीं मिलती। सारे एशिया में एक मात्र भारत ही ऐसा देश है, जो लोकतन्त्र भी है और धर्म-निरपेक्ष भी है। और इन दोनों चीजों ने ईसाइयों को या मुसलमानों को या पंजाब के आतंकवादियों को धर्म के नाम पर खेलने का मौका दिया है। यदि उनको इसी प्रकार शह दी जाती रही तो वे इस भारत रूपी शिव का अंग-अंग कुतरके रख देंगे।

हमें आज भी अपनी कल्पनाओं की आँखों के सामने वालक मूलशंकर शिव के मन्दिर में बैठा दिखाई देता है और यह भी

## ४६ : असलियत क्या है

दिखाई देता है कि इधर-उधर के कोनों से निकल कर चूहे उस मूर्ति पर छलाँग लगा रहे हैं और उसे मलीन कर रहे हैं। मूलशंकर का कोमल मन इस अनहोनी को सहन नहीं कर सका। उसका अन्तः-करण विद्रोह कर उठा। उसने निश्चय किया कि—मैं शिव के असली कल्याणकारी स्वरूप को पहचान कर छोड़ूँगा। जब सारी दुनिया सो रही थी तब वह बालक जाग रहा था। आयो ! सच्चे शिव को पहचानना है और इस भारत रूपी शिव को कल्याणकारी स्वरूप देना है तो जागो ! जागो रे जागो—मैं तुमको जगा रहा हूँ गफलत में सोने वालो !

[ १६ मार्च, १९८६ ]

## हरियाणा से अन्याय

पिछले दिनों लोकसभाध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ ने पंजाब में नित्यप्रति होने वाली हिंसक वारदातों को देखते हुए जब यह कहा कि पंजाब एक बूचड़खाना बन गया है, तो अकाली दल के अध्यक्ष और पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री बरनाला ने इस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट की। अपने आक्रोश भरे बयान में उन्होंने कहा कि श्री जाखड़ ने ब्लू स्टार आपरेशन के समय और उसके बाद नवम्बर में दिल्ली में दंगों के समय इस शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया?

श्री जाखड़ स्वयं पंजाबी हैं इसलिए पंजाब में निरन्तर होते रक्तपात को देखकर उनकी मानसिक व्यथा समझ में आती है। समझ में आती है श्री बरनाला की विवशता भी। श्री बरनाला का बयान चाहे कितना ही आला हो, परन्तु उनके आक्रोश का निवाला किसी समझदार आदमी के गले उतरने वाला नहीं है। श्री बरनाला ने अपनी विफलता को छिपाने के लिए इस शब्द के प्रयोग को साम्प्रदायिक रंग देने का प्रयत्न किया है जबकि श्री जाखड़ का कथन बिना साम्प्रदायिकता के एक तटस्थ पर्यावेक्षक की उकित भाव था। कपूरथला और बटाला में जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए कोई गैर-पंजाबी भी श्री जाखड़ के कहे हुए शब्दों को दोहराने के सिवाय और क्या कह सकता है?

वास्तविकता यह है कि श्री बरनाला ने ये काँटे स्वयं बोए हैं। जैसी स्थिति उन्होंने पैदा कर दी है, उसके कारण उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे आतंकवादियों से सख्ती से निपट सकेंगे। बरनाला उस धातु के बने ही नहीं हैं। जब उन्होंने सिख छात्र संघ

के लोगों को 'बेंस कमेटी' का बहाना बनाकर धड़ाधड़ छोड़ना शुरू कर दिया, तभी प्रधानमन्त्री ने अपनी नाराजगी जाहिर की थी। तब श्री बरनाला ने बड़े अभिमान के साथ कहा था कि राज्य में कानून और व्यवस्था की जिम्मेवारी राज्य सरकार का काम है। आज उनका वह अभिमान कहाँ है? जालन्धर और कपूरथला की सड़कों पर उनके प्रशासन की विफलता नंगी होकर नाच रही है। अकाल-तख्त पर दमदमी टकसाल वालों का कब्जा हो चुका है। बरनाला की सरकार और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी उनको वहाँ से निकालने में असमर्थ है। स्वयं अकाली दल में जितनी धड़ेबाजी है, उसके कारण तोहड़ा और बादल पंजाब समझौते के पक्ष में पहले ही नहीं थे, और अब तो वे आतंकवादियों के साथ मिलकर अकाली सरकार को किसी भी तरह चलने देंगे—यह विश्वास नहीं होता।

श्री बरनाला ने न केवल सिख छात्र संघ के आतंकवादियों को छोड़ दिया, बल्कि आतंकवाद में किसी भी रूप में हिस्सा लेने वाले लोगों को, फिर चाहे वे सेना के भगोड़े हों या और कोई, तरह-तरह से पुरस्कृत किया। पुलिस में और सरकारी कार्यालयों में उन्हीं को नौकरियाँ दी गईं। शायद उन्होंने सोचा होगा कि इस प्रकार पुरस्कार से उनकी आतंकवादी मनोवृत्ति पर अंकुश लग सकेगा। परन्तु यह तो उल्टा आग में धी डालने वाला सिद्ध हुआ। आतंकवादियों से निपटने में जो अफसर कुछ कारगर हो सकते थे, उनका तबादला कर दिया गया। आज पंजाब की पुलिस का मनोवैज्ञानिक हो चुका है, उतना क्षीण इससे पहले कभी नहीं हुआ था। आतंकवादी रोज ही हत्या करके या लूटमार करके भाग जाते हैं। परन्तु पुलिस आज तक किसी को पकड़ नहीं पाई। सीमा सुरक्षा बल के जो सैनिक तैनात किए हैं, वे सब गैर-पंजाबी हैं। वे पंजाब के भूगोल से परिचित नहीं इसलिए बिना पंजाब पुलिस की सहायता के वे कुछ कर नहीं सकते। और पंजाब पुलिस आज निष्क्रियता का पर्यायवाची बन

चुकी है। 'दुबे आयोग' की रिपोर्ट ने पंजाब की पुलिस को साम्राज्यिक भी करार दिया है। जो काँटे खुद बरनाला ने अपने हाथों से बोये हैं, अब वे ही काँटे उनको चारों ओर से छेद रहे हैं।

अभी श्री बरनाला ने यह कहा है कि १३ अप्रैल तक चण्डीगढ़ पंजाब को मिल जाना चाहिए। वे आतंकवादियों द्वारा फैलाए गए हिंसात्मक वातावरण को पंजाब समझौते की पूर्ति का और चण्डीगढ़ की प्राप्ति का 'लीवर' बनाकर इस्तेमाल करना चाहते हैं। परन्तु समझौते की अन्य आवश्यक शर्तों की ओर उनका कोई ध्यान नहीं है। सबसे पहले तो उन्होंने अब्रोहर और फाजिल्का को उनके हिन्दू-भाषी होते हुए भी हरियाणा को देना अस्वीकार कर दिया और जिस जोड़-नहर का समझौते में उल्लेख था और जिसे सन् १९८६ के १५ अगस्त तक पूरा हो जाना चाहिए, उसके बारे में वे कोई चर्चा नहीं करते। पंजाब सरकार जब नहर को बनाने के लिए हरियाणा से ५५ करोड़ रुपया ले चुकी है। पर उस नहर को बनाने में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है। इतना ही नहीं, दमदमी टकसाल के लोगों ने तो स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है कि हम किसी भी हालत में उस नहर को बनने नहीं देंगे। अब श्री बरनाला ने जो नया पैंतरा बदला है उसके कारण तो उनकी विश्वसनीयता और भी समाप्त हो चुकी है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि पंजाब को सिंचाई के लिए जितने पानी की जरूरत है उसका इस्तेमाल करने के बाद हरियाणा और राजस्थान को देने के लिए एक बूँद भी पानी नहीं बचता। फिर जोड़-नहर के निर्माण का सवाल ही कहाँ रह गया? यह वही मनोवृत्ति है, जो आतंकवादियों के स्वर में बार-बार बोलती है कि पंजाब का अनाज और पंजाब का पानी हम पंजाब से बाहर नहीं जाने देंगे। परन्तु केन्द्र की ओर से या देश के अन्य राज्यों की ओर से प्राप्त होने वाली किसी भी चीज को वे छोड़ने को भी तैयार नहीं। जो मेरा है

सो तो मेरा है ही, जो तेरा है वह भी मेरा है'—यह मनोवृत्ति कौन-सी राष्ट्रीयता की निशानी है, यह हमारी समझ में नहीं आता।

'मैथ्यू आयोग' ने कुन्दूखेड़ा में जिस ढंग से जनमत संग्रह करवाया, पंजाब के मन्त्रियों को और पुलिस अधिकारियों को वहाँ बे-रोक-टोक जाने दिया और हरियाणा के मन्त्रियों तथा सरकारी अधिकारियों को वहाँ घूमने नहीं दिया, वह आयोग के न्याय परायण होने की निशानी नहीं है। उसके बाद आयोग ने जो निर्णय लिया वह भी उसमें साहस के अभाव का द्योतक है। खरी बात कहने की उनमें हिम्मत नहीं थी, इसलिए उन्होंने अबोहर और फाजिल्का के बारे में भी कोई दो-टूक फैसला दिए बिना अपने सिर से बला टालकर वापिस पुनः केन्द्र के ऊपर थोप दी। जिस तरह गणित में निकटतम का हिसाब चलता है, और बड़ी राशियों में आने-पाई की गिनती छोड़ दी जाती है, इसी तरह कुन्दूखेड़ा के मामले में सान्निध्य की शर्त को बाधक नहीं बनना चाहिए था। बल्कि आयोग को चाहिए था कि सरदार प्रताप सिंह कैरो के जमाने में कुन्दूखेड़ा को अबोहर-फाजिल्का से निकालकर दूसरे जिले में शामिल करने की जो गलती की गई थी, उस गलती को सुधारता। उस समय पंजाब के वित्तमन्त्री करतार सिंह ने जानबूझकर यह शरारत की थी। मैथ्यू आयोग के सामने यह स्वर्ण अवसर था कि उस समय की हुई शरारत को वह बेनकाव करता और उस गलती को सुधारता। तब यह सान्निध्य की अड़चन वाली शर्त भी अपने-आप साफ हो जाती।

मैथ्यू आयोग की एक कमजोरी यह भी रही कि उसने चण्डीगढ़ के हिन्दी-भाषी होते हुए भी उसे तो पंजाब को देने का समर्थन कर दिया, परन्तु अबोहर-फाजिल्का के बारे में वह वैसी कोई स्पष्ट राय नहीं दे सका। यह हरियाणा के साथ सरासर अन्याय है। आखिर चण्डीगढ़ पंजाब को मिलना चाहिए, इसमें कोई तर्क और संगति भी तो होनी आवश्यक है। कहा जाता है कि वह पंजाब के लिए बनाया

गया था। परन्तु चण्डीगढ़ का निर्माण जिस पंजाब के लिए हुआ था वह आज का पंजाब नहीं है। उस पंजाब में हिमाचल प्रदेश और हरियाणा भी शामिल थे। इसलिए चण्डीगढ़ पर जितना दावा पंजाब का है, उससे कम किसी भी हालत में हरियाणा और हिमाचल का नहीं है। आखिर शाह आयोग ने चण्डीगढ़ हरियाणा को देने का सुझाव दिया ही था। उनके सुझाव में एक ताकिक संगति यह थी कि चण्डीगढ़ हिन्दी-भाषी है। क्या इस बात को अकाली सरकार अस्वीकार कर सकती है।

आज तक चण्डीगढ़ से जितने भी संसद सदस्य लोकसभा में आये वे सब इसी मुद्दे पर चुनाव में कामयाब हुए थे। अब मैथ्यू आयोग तो नामशेष हो गया। रह गई पंजाब सरकार और केन्द्रीय सरकार। पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री बरनाला के वयानों से उनका मंशा भी स्पष्ट हो गया कि वे चण्डीगढ़ तो हर हालत में लेना चाहते हैं, पर हरियाणा को न अबोहर-फाजिल्का देना चाहते हैं और न ही जोड़-नहर के लिए एक भी बूँद पानी देना चाहते हैं। यह हरियाणा के साथ सरासर अन्याय है। हरियाणा की जनता किसी भी हालत में इस अन्याय को सहन नहीं करेगी, यह हमें विश्वास है। फिर चाहे हरियाणा में कांग्रेसी सरकार रहे या न रहे।

इस समय आतंकवादियों के आतंक की छाया में शायद केन्द्र के मन में किसी-न-किसी तरह बरनाला के तुष्टीकरण की बात समा रही हो। परन्तु वह तुष्टीकरण कितना आत्मघाती होगा, यह शायद किसी ने नहीं सोचा। अन्दर ही अन्दर, हरियाणा की जनता के मन में जो लावा उबल रहा है, वह किसी दिन ज्वालामुखी का भयंकर बिस्फोट बन सकता है, यह नहीं भूलना चाहिए। गलत बात को प्रश्न देने के नतीजे हमेशा गलत होंगे। अगर पंजाब सरकार को आतंकवाद से निपटने के लिए सख्ती बरतने की सलाह दी जा सकती है तो क्या केन्द्रीय सरकार को यह सलाह नहीं दी जा सकती कि वह

५४ : असलियत क्या है

पंजाब की आग को शान्त करने के नाम पर हरियाणा में आग न लगावे। पंजाब की आग तो पता नहीं शान्त होगी या नहीं, परन्तु हरियाणा और सुलग उठेगा, तो उसका धुँआ अन्य राज्यों तक भी बड़ी आसानी से पहुँच सकता है। केन्द्रीय सरकार इतनी अनधी नहीं हो सकती कि उसे यह आग और उसका धुँआ दिखाई न दे।

[२३ मार्च, १९८६]

## राजीव जी का 'जी' कहाँ गया

श्री राजीव गांधी के नामकरण-संस्कार का अवसर जब आया तब उनके नाना श्री जवाहरलाल नेहरू दुविधा में पड़ गये। उनका अपना कोई पुत्र नहीं था इसलिए अपने इस पहले दोहते पर ही वे सारा स्नेह और ममता टिकाए हुए थे। वे चाहते थे कि अपने नाती का ऐसा नाम रखें, जिसमें केवल उसकी माँ और अपनी बेटी इन्दिरा के ही नाम की झलक न हो, बल्कि नाना और नानी अर्थात् जवाहरलाल नेहरू और कमला नेहरू के नामों की भी कुछ झलक हो। उन्होंने अपने मन की दुविधा आचार्य नरेन्द्र देव के समक्ष रखी। आचार्य नरेन्द्र देव अनेक भाषाओं और अनेक विषयों के पण्डित तो थे ही, संस्कृत के भी बहुत अच्छे पण्डित थे। आचार्य जी ने सब शर्तों पर गहराई तक सोचने के बाद नाम सुझाया—“राजीव”。इस नाम का पहला अक्षर (रा) पुत्र की माँ के नाम से लिया गया था, जो माँ के नाम का अन्तिम अक्षर था। नाम का दूसरा और तीसरा अक्षर जवाहरलाल नेहरू के नाम से लिया गया था—(ज) और (व) ये दोनों अक्षर नेहरू जी के नाम के शुरू में ही आते थे। नेहरू जी ने आचार्य नरेन्द्र देव से कहा कि इसमें कमला नेहरू के नाम की झलक तो कहीं आई नहीं, तो आचार्य जी ने मुस्कराते हुए कहा—“पण्डितजी, राजीव का अर्थ है—कमल। क्या इस अर्थ के बाद कमला जी के नाम के किसी अक्षर का आना शेष रह गया? नेहरू जी खिल उठे। नाम उनको पसन्द आ गया और बालक का नाम—‘राजीव’ रख दिया गया।

सन् १९४७ में जब राष्ट्र को स्वतन्त्रता मिली, तब यही राजीव

तीन वर्ष के थे। १५ अगस्त के दिन जब भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री की हैसियत से नेहरू जी ने ऐतिहासिक लाल किले की प्राचीर पर तिरंगा ध्वज लहराया तो भारत की आजादी के प्रतीक स्वरूप इस दृश्य को देखने के लिए अपार जन-समुदाय उमड़ पड़ा था। वह ऐतिहासिक दिन तो ऐतिहासिक विरासत बन गया। परन्तु एक छोटी-सी घटना का उल्लेख हम करना चाहते हैं जो शायद इतिहास के किसी पृष्ठ पर कहीं अंकित नहीं होगी।

१६ अगस्त सन् १९४७ की बात है। भारत की राजधानी इसी दिल्ली में कश्मीरीगेट की कांग्रेस कमेटी ने प्रातःकाल राष्ट्रीय ध्वजारोहण का अपना एक छोटा-सा स्थानीय कार्यक्रम रखा और उन्होंने निश्चय किया कि राष्ट्रीय ध्वज का यह आरोहण तीन वर्ष के बालक राजीव गांधी से करवायें। उस समय इन्दिरा गांधी की ही क्या औकात और क्या बिसात थी जो राजीव की कुछ औकात और बिसात होती ! पता नहीं कश्मीरीगेट की कांग्रेस कमेटी के किस सदस्य की यह सूझ थी। शायद इस प्रकार का प्रस्ताव रखने वाले उस गुमनाम व्यक्ति को यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं होगी कि इस एक छोटी-सी घटना के द्वारा वह भारत के एक भावी इतिहास का निर्माण कर रहा है।

कश्मीरीगेट में जहाँ तिकोना पार्क है, उसी पार्क में यह ध्वजारोहण होना था। उसके एक ओर गिरजाघर है। दूसरी ओर इन्जीनीयरिंग कॉलेज है, जो उस समय सैंटस्टीफेंस कॉलेज था, जिस पर क्रिश्चियन लोगों को गर्व था। तीसरी ओर हिन्दू कॉलेज था जहाँ आज नगरपालिका का दफ्तर है। चौथी ओर खुली सड़क थी और दोनों ओर अंग्रेजों के जमाने की बड़ी और आलीशान समझी जाने वाली अंग्रेजी नमूने की ही दुकानें थीं। जब प्रातःकाल ध्वजारोहण का समय आया तो इन्दिरा गांधी राजीव को गोद में लेकर वहाँ आईं

और गोद में लिये-लिये ही राजीव के हाथों से इन्दिरा जी ने छवजा-रोहण करवाया। उपस्थित लोगों ने हर्षध्वनि की। बन्देमातरम् का राष्ट्रगीत गाया गया (तब तक “—जन-गण-मन” को राष्ट्रगीत बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था)। नदी में बहते तिनके की तरह काल के प्रवाह में यह घटना वह गई। समारोह समाप्त हो गया। पता नहीं लेखक के सिवाय इस घटना का प्रत्यक्ष साक्षी इस समय अन्य कोई व्यक्ति दुनिया में जीवित बचा है या नहीं। सन् १९४७ के १६ अगस्त की सुबह घटी इस घटना के समय क्या इन्दिरा गांधी ने कल्पना की होगी कि कभी आगे जाकर मैं और मेरा बेटा दोनों अपने-अपने समय में भारतवर्ष के, जो संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है और निर्गुट देशों का सबसे बड़ा प्रेरणा स्रोत है, प्रधानमन्त्री के सिंहासन को सुशोभित करेंगे?

वही राजीव गांधी आज ४२ वर्ष के हैं और प्रधानमन्त्री के पद पर सुशोभित हैं। जिस घटना-चक्र की बदौलत वे इस पद तक पहुँचे, आम चुनाव में जो उन्होंने अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व सफलता प्राप्त की, वह भी अपने-आप में एक इतिहास बन गया। शुरू-शुरू में जिस तेजी से और जिस दयानतदारी से उन्होंने राष्ट्र का संचालन किया, उसी का यह परिणाम हुआ कि समस्त विपक्षी दल न केवल धराशायी हो गये, बल्कि उनके मनों में भी प्रधानमन्त्री के प्रति कहीं छिपी और कहीं खुली प्रशंसा जाग उठी। आम जनता का तो कहना ही क्या। जनता जनादंन को तो जैसे राजीव गांधी के रूप में साक्षात् भगवान् मिल गया। बुजूर्गों ने उन्हें अपने पुत्र की तरह समझा, महिलाओं ने सगे भाई के रूप में देखा और युवाओं ने उनके रूप में देश को २१वीं सदी की ओर ले जाने वाला सही पैगम्बर पा लिया। जब असम और पंजाब की समस्या को भी, जिसको सुलझाते-सुलझाते इन्दिरा गांधी अपनी जान कुर्बान कर गई पर समस्या नहीं सुलझ पाई, देखते-देखते चुटकी बजाते हुए संसार के सबसे छोटी उम्र के प्रधानमन्त्री ने हल

५८ : असलियत क्या है

करके दिखा दिया तो उनके सदा विरोधी और आलोचक समाचार पत्र भी उनकी स्तुति के नगाड़े बजाने लगे ।

इतनी प्रशंसा ! इतना विश्वास ! क्या इससे पहले जनता ने आज तक कभी किसी और को दिया ? क्या नेहरू और इन्दिरा आज जीवित होते तो 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'—अपने, पुत्र से पराजय स्वीकार करने में गर्व अनुभव न करते ? इतना यश आज तक और किस प्रधानमन्त्री को मिला था ।

पर अचानक यह क्या हो गया ? उस यश के चन्द्रमा में यह कलंक कहाँ से धुस गया ? राहु और केतु चन्द्रमा को कैसे ग्रहण लगा बैठे ? इतनी मेहनत से कमाई कीर्ति की वह अक्षयनिधि अक्समात् क्षीण कैसे होने लगी ? असम और पंजाब की समस्या को सुलझाने में जो चमत्कार दिखाई दिया था और जिस पर चारों तरफ प्रशंसा के नगाड़े बजे थे, अब वह नगाड़ा अन्दर से खोखला क्यों नजर आने लगा ? पंजाब वहीं पहुँच गया जहाँ ब्लू स्टार आपरेशन से पहले था । ऊपर से श्रीलंका ने तमिलों के नरसंहार की मुहिम चलाकर नया सिर दर्द पैदा कर दिया । पाकिस्तान और अमरीका फिर दाँत दिखाने लगे । जो पाकिस्तान इन्दिरा के नाम से थर-थर काँपता था, अब वह खुलेआम पंजाब के आतंकवादियों को प्रश्रय और प्रशिक्षण देता है और पंजाब के आतंकवादी हैं कि वे अकाली शब्द में छिपे अकल के अकाल को घोषित करने से बाज नहीं आते । कभी यह पढ़ा था—'

सर्पाणं च खलानां च परद्रव्यापहरिणाम् ।

अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तन्ते जगत् ॥

—“साँपों के, दुष्टों के और दूसरों का जान-माल लूटने वालों के अभीष्ट प्रयोजन कभी पूरे नहीं होते, इसीलिए यह जगत् टिका हुआ है ।” परन्तु अब ऐसा लगता है उन साँपों और दुष्टों की ही बन आई है और वे जगत् को न सही, पर भारत को बर्बाद करने पर अवश्य तुले हुए हैं ।

कोड़ में खाज की तरह प्रधानमन्त्री ने दो ऐसी गलियाँ कर डालीं कि अपनी पिछली सारी कमाई पर पानी फेर दिया। कुछ लोग तो यह भविष्यवाणी भी करने लगे कि अब राजीव गांधी के सितारे अस्ताचल की ओर चल पड़े हैं। वे दोनों गलियाँ कौन-सी हैं? बिना लाग-लपेट के सीधी सच्ची बात यह है कि शाहबानो के केस में उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध मुस्लिम महिला विधेयक लाकर और असमय इतनी अधिक महँगाई बढ़ाकर राजीव गांधी ने अपने यश की चादर में छेद कर दिया। पहले वे जितने अधिक लोकप्रिय थे, आज वे उतने ही अधिक अलोकप्रिय हैं।

सबसे बड़े दुःख की बात यह है कि इन्दिरा गांधी बड़े-बड़े सूरमाओं की मूँछें अपने साथ ले गयीं, तो राजीव गांधी ने सब कांग्रेसियों का मेरुदण्ड छीन लिया। अब वे राजीव में से (जी) को हटाकर केवल 'राव साहब' रह गये और अपने दून स्कूल के दरबारियों से कुछ ऐसे घिर गये कि उनका वह ओज, उनका वह तेज और उनकी मूरत की वह ओप घटाटोप में ढक कर रह गई।

उनकी सेवा में एक सुझाव है। मुस्लिम महिला विधेयक के द्वारा वे मुस्लिम महिलाओं को कटूरपंथी भेड़ियों के रहमोकरम पर छोड़ने को यदि उतावले हो उठे हैं तो इतना और करें कि एक मुस्लिम शौहर बिल और पेश करें जिसमें मुसलमान पतियों के तलाक सम्बन्धी अधिकारों की सुरक्षा की पूरी गारण्टी दी जाय। अपनी पार्टी का नाम भी कांग्रेस (बनातवाला) रख दें और अपनी पार्टी का प्रचार मन्त्री श्री शहाबुद्दीन को बना दें। उसके बाद दीवारों पर यह लिखवा दें—“इन्दिरा जी की याद में, राजीव जी के साथ में देश को बर्बाद बोलो कौन करेगा? हम करेंगे, हम करेंगे।”

बिना 'जी' के राजीव जी! ४२ वर्ष की उम्र तक पहुँच कर अब तक आपके दूध के दाँत तो टूट ही चुके होंगे, पर लगता है कि अभी

## ६० : असलियत क्या है

अक्कल दाढ़ निकलने में कसर है। कागज की पुड़िया में होली के गुलाल के साथ तुम्हारे नाना की अक्कल दाढ़ भेजने की गुस्ताखी कर रहा हूँ। बुरा मत मानना। अगर वह अक्कल दाढ़ कहीं मुँह में फिट हो सके तो देख लेना।

[ ३० मार्च, १९८६ ]

## मन चंगा तो कठौती में गंगा

हर १२वें साल कुम्भ के आयोजन की परम्परा कब शुरू हुई थी, यह कहना कठिन है। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि जिन प्रतिवादी-भयंकर आचार्य श्री शंकर ने भारत के उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में चार महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अपने मठ स्थापित किए, उन्हीं आदि शंकराचार्य ने चार प्रमुख तीर्थों पर कुम्भ पर्व की परम्परा भी चलाई। कुछ मनीषी लोग चार वेद, चार पुरुषार्थ, चार वर्ण और चार आश्रम के साथ ही शंकराचार्य के चारों मठों और चार कुम्भों को भी जोड़-कर उसे भारत की राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक ऐक्य के साथ जोड़ते हैं। निःसन्देह प्रति १२वें वर्ष मनाये जाने वाले कुम्भों के इन महापर्वों पर जिस प्रकार भारत के सब राज्यों के, सब वर्गों के, सब अखाड़ों के और सब सम्प्रदायों के साधु तथा सन्तजन और सामान्य गृहस्थी-जन एकत्रित होते हैं, उसे एक प्रकार से भारतीय एकता का उज्ज्वल प्रतीक माना जा सकता है।

यों कुम्भ पर्व को ज्योतिष के साथ भी जोड़ा जाता है और अमुक राशि में सूर्य के पहुँच जाने पर गंगा में स्नान को परम पवित्र माना जाता है। गंगा यों भी समस्त हिन्दू-समाज में ‘पाप-नाशिनी’ और ‘मोक्ष-दायनी’ के नाम से प्रसिद्ध है और गीता, गौ तथा गायत्री के साथ गंगा भी हिन्दू धर्म का पवित्र प्रतीक बन गई है। ज्योतिष का जहाँ तक सम्बन्ध है उसमें एक चमत्कार इस बात से जोड़ा जा सकता है कि जब इकींसवीं सदी का पहला दिन शुरू होगा उसी दिन उस वर्ष पड़ने वाले कुम्भ की समाप्ति होगी।

परन्तु सब चमत्कारों में सबसे बड़ा चमत्कार है—अन्ध-विश्वास-

का। आध्यात्मिकता और श्रद्धा के नाम पर जितना अन्ध-विश्वास हिन्दू समाज में फैला हुआ है, उतना शायद किसी अन्य धर्म के मतावलम्बियों में नहीं है। यों तो किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी अन्ध-विश्वासों से अछूते नहीं हैं, परन्तु हिन्दू समाज के धर्म-धुरीणों ने तो अन्ध-विश्वास के प्रसार में हिन्दूत्व की इतिश्री समझ रखी है। जब आध्यात्मिकता का बखान करने पर उतरेंगे तब यह कहने से बाज नहीं आयेंगे—‘मन चंगा तो कठौती मैं गंगा’ परन्तु जब गंगा-स्नान का कोई भी पर्व आयेगा तो घर की कठौती को छोड़कर सीधे भागेंगे गंगा की ओर और गंगा नहीं, तो किसी भी नदी-नाले या सरोवर में ठीक उसी दिन डुबकी लगाने को परम पुण्य का साधन मानेंगे। कुछ लोग तो गंगा के तट पर मरना या मरने के पश्चात् अपनी अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करना मोक्ष जाने का सीधा टिकट समझते हैं। काशी में मरने से मुक्ति मानने वाले और प्रयागराज में अक्षय वट से कदकर गंगा में अपने प्राण विसर्जन करने वाले मोक्षाभिलाषी लोगों की भी हिन्दू समाज में कमी नहीं रही।

हम शिक्षा के प्रसार का और वैज्ञानिक उन्नति का राग अलापते नहीं थकते, परन्तु हिन्दू-समाज जिन अन्ध-विश्वासों में पहले जकड़ा हुआ था, उन्हीं अन्ध-विश्वासों में अब भी जकड़ा हुआ है। हिन्दू-समाज को अपने धर्म और संस्कृति पर बड़ा गर्व है और वह गर्व सर्वथा उचित भी है। परन्तु उस धर्म और संस्कृति को इस प्रकार अन्ध-विश्वासों के आवरण से ढक दिया गया है कि उसके कारण धर्म और संस्कृति का उदात्त और उज्ज्वल स्वरूप तो तिरोहित हो ही गया, रह गया केवल छूँछा अन्ध-विश्वास, जिस पर गर्व करने की तो बात क्या, केवल धृणा ही की जा सकती है। आज हिन्दू जाति के पतन का सबसे बड़ा कारण यह अन्ध-विश्वास ही है।

कुम्भ के मेले पर थोड़े-से स्थान की सीमा में अत्यधिक भीड़ के एकत्रित हो जाने पर पहले दुर्घटनाएँ न हुई हों, ऐसी बात नहीं है।

सन् १७६० में १८ हजार लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। उसके बाद सन् १७६५ में ५ सौ से अधिक लोगों को प्राण-विसर्जन करना पड़ा। ६ अप्रैल के अंक में हम सन् १७३६ के उस कुम्भ की भी चर्चा कर चुके हैं, जब ५ हजार नागा साधुओं को तलवारों से काटकर गंगा में फेंक दिया गया था। परन्तु उसका कारण अन्ध-विश्वास न होकर राजनीतिक था। स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् १९५४ में प्रयागराज के कुम्भ के अवसर पर दो हजार से अधिक लोग भीड़ में कुचलकर मर गये थे और इस बार के कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में ५० आदमी अनायास मोक्ष धाम सिधार गये। यह ५० की संख्या तो सरकारी घोषणा के मुताबिक है, परन्तु प्रत्यक्षदर्शी इस संख्या को कम-से-कम दस गुना और बीस गुना तक बताते हैं।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि एक ही दिन, एक ही मुहूर्त में, पुण्य लाभ करने वाले लाखों लोगों की संख्या जहाँ भी एकत्रित होगी, वहाँ इस प्रकार की घटनाएँ घटना अस्वाभाविक नहीं हैं। परन्तु सबसे अधिक दर्दनाक बात यह है कि जिन विशिष्टजनों पर जनता की सुरक्षा की सबसे अधिक जिम्मेवारी थी, वे स्वयं उस जिम्मेवारी को भूलकर अन्ध-विश्वासी भीड़ के अंग बन गये। अगर वे सही अर्थों में भीड़ के अंग बन जाते तब भी शायद यह भयंकर दुर्घटना न होती। परन्तु वे बी० आई० पी० भी बने रहे और अन्ध-विश्वासी भी बने रहे और सारी पुलिस जिसका काम मेले की भीड़ को नियन्त्रित करना था, वह इन अत्यन्त विशिष्टजनों को भीड़ से बचाकर वापिस सही-सलामत उनके निवास स्थान तक पहुँचाने में लग गयी और तीन घण्टे तक हरिद्वार में हर की पौड़ी का ब्रह्मकुण्ड इन विशिष्टजनों के लिए सुरक्षित कर दिया गया।

इन तीन घण्टों में तो लाखों लोग स्नान करके निकल सकते थे। परन्तु जनता-जनार्दन को तो पुलिस के लाठी चार्ज के सहारे बाँसों और बल्लियों के बाड़े में बन्द कर दिया गया और बी० आई० पी०

जन पुण्य कमाते रहे। जब लाखों लोगों का प्रवाह-भार बाड़े की बल्लियाँ न सह सकीं तो उनको टूटना ही था और पुलिस के यमदूतों के लाठी प्रहार से भगदड़ मचनी ही थी। आश्चर्य है कि उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री ने अपने राज्य के सब वी० आई० पी० जनों को यह आदेश दिया था कि वे कुम्भ के मेले पर हरिद्वार न जायें, जिससे पुलिस को जनता की सुरक्षा से हटकर उनकी सुरक्षा में न लगना पड़े। परन्तु वे वीर बहादुर ऐसे वीर और बहादुर निकले कि स्वयं अपने आदेश का उल्लंघन करके लाव-लश्कर के साथ पहुँच गये। हर की पौड़ी पर ब्रह्मकुण्ड में स्नान करके पुण्य कमाने। ऐसे ही पुण्यलोभी निकले बिहार के मुख्यमन्त्री, हरियाणा के मुख्यमन्त्री तथा और न जाने कौन-कौन मन्त्री, तन्त्री और सन्तरी तथा तथाकथित वी० आई० पी० जन। अब अखबारों के सम्पादक कह रहे हैं कि इन सब वी० आई० पी० जनों को शर्म के मारे चुल्लू-भर पानी में डूब मरना चाहिए। परन्तु हमारा सुझाव यह है कि जो वी० आई० पी० जन इस अवसर पर पुण्य कमाने का प्रलोभन नहीं छोड़ सके उनको पुण्य कमाने का अवसर और दिया जाय और उनको सजा के तौर पर जन-साधारण के सामने हर की पौड़ी पर जवर्दस्ती नाक पकड़ के गंगा के शीतल जल में सौ-सौ डुबकी लगाने को कहा जाय जिससे कि केवल उनके इसी जन्म के पाप न छूटें बल्कि इस जन्म के पहले अनेक जन्मों के और आगे आने वाले जन्मान्तरों के पाप भी छूट सकें। शायद उनके लिए इससे अधिक दयापूर्ण सजा और नहीं हो सकती।

जिन लोगों ने इस देश को इकीसवीं सदी में ले जाने का ठेका लिया है क्या वे इसी प्रकार अन्ध-विश्वासों की नाव पर बैठकर देश की जनता से बीसवीं सदी की नदी पार करवायेंगे? ये अन्ध-विश्वास जिस प्रकार इस सदी में देश को रसातल में ले जा रहे हैं, अगली सदी में उससे भी अधिक और भयंकर रसातल में ले जायेंगे।

इसी स्थान पर आकर ऋषि दयानन्द की पाखण्ड-खण्डनी पताका

का स्मरण आता है। अब से लगभग सवा सौ वर्ष पहले ऋषि ने हिरद्वार में ही कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड-खण्डनी पताका गाढ़कर अन्धविश्वासों के विरुद्ध मोर्चा लेने की ठानी थी। एक ओर अकेला बालब्रह्मचारी लंगोट-बन्द संन्यासी और दूसरी ओर पाप को पुण्य समझने वाली अन्धविश्वासों से घिरी अपार जनता। अब ऋषि तो नहीं रहे, उनकी पाखण्ड-खण्डनी पताका भी नहीं रही, परन्तु उनके मिशन को अपना मिशन समझने वाले रह गये कुछ आर्यसमाजी। परन्तु उन आर्यसमाजियों में भी कितने ही लोग ऐसे हैं जो गतानु-गतिकता के हिसाब से अन्ध-विश्वास के प्रवाह में बह गये। जो हिन्दू जाति को अन्धविश्वासों से निकालना चाहते थे आज वे सब राजनीतिक और धार्मिक नेता भी स्वयं अन्ध-विश्वासों में फँसे हुए हैं।

आज रामनवमी के दिन हमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का स्मरण आता है। अन्धविश्वासों के निशाचर रावण के असुरों के साथ मिलकर देश पर चारों तरफ से हावी होने की योजना बना रहे हैं और श्रीराम पर आस्था रखने वाले हिन्दू अपने अन्धविश्वासों के घेरे में घेरे हुए राम के सही स्वरूप को भी नहीं पहचान पाते। आज इस देश को उस राम की आवश्यकता नहीं जो एक हिरण तक का निशाना नहीं साध सकता, जो सीता के वियोग में आँसू बहाता हुआ जंगल के पशु-पक्षियों और पेड़ों से सीता का पता पूछता फिरता है, जो धोबी और धोविन के अनर्गल प्रलाप से प्रभावित होकर झूठी वाह-वाह के लिए निर्दोष सीता को धोखे से जंगल में निकाल देता है। आज देश को उस धनुर्धारी राम की आवश्यकता है, जिसके एक ही बार से पर्वतों के वक्षःस्थल छिद जायें, जिसके धनुष हाथ में लेते ही निशाचरों के दिल दहल उठें और जिसको आते देखकर पर्वत भी उसके रास्ते से हट जायें। क्या अन्धविश्वासी लोग धर्म और संस्कृति के सही स्वरूप को समझेंगे।

## उल्टे बांस बरेली को

अब से ६ मास पहले भारत सरकार ने 'शिक्षा की चुनौती' नाम से एक दस्तावेज प्रचारित किया था और देश-भर में उस पर विचार विनिमय होने की आशा की थी। उस पर जिम्मेवार क्षेत्रों में काफी बहस हुई, पर उस बहस में जिन मुद्दों को लेकर सरकार की आलोचना की गई, उन पर हो सरकार ने सबसे कम ध्यान दिया। अब सरकार ने नई शिक्षा-नीति का दस्तावेज संसद में पेश किया है। वैसे भी प्रधानमन्त्री बारम्बार यह कहते रहे हैं कि हमको देश की शिक्षा-नीति में आवश्यक परिवर्तन करना है क्योंकि भावी पीढ़ी को हम जिस प्रकार का तैयार करना चाहते हैं उसका सबसे प्रमुख माध्यम केवल शिक्षा ही है।

जब इन्दिरा गांधी ने भारत के प्रधानमन्त्री पद की बागडोर संभाली थी तभी उन्होंने यह स्वीकार किया था कि स्वतन्त्र भारत की सरकार से शुरू में ही दो बड़ी गलतियाँ हो गई। पहली यह हुई की प्रशासन के लिए अंग्रेजों द्वारा चलाई गई नौकरशाही की प्रणाली को हमने ज्यों-का-त्यों कायम रखा और दूसरी गलती यह हुई कि मैकाले द्वारा चलाई गई शिक्षा-प्रणाली को हमने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। सच वात तो यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रायः प्रत्येक प्रधानमन्त्री शिक्षा-प्रणाली को अंग्रेजों के बजाय भारतीयों की दृष्टि से उपयोगी बनाने की बात कहता रहा है। इस सम्बन्ध में अनेक आयोग भी बैठाये जा चुके हैं और यथासमय उनकी रिपोर्टें भी आ चुकी हैं। परन्तु मैकाले का बोया बीज इतना सशक्त सिद्ध हुआ कि आज तक कोई महारथी उसका उन्मूलन नहीं कर सका। परिवर्तन

की माँग सब करते रहे, उसकी आवश्यकता भी अधिक-से-अधिक अनुभव करते रहे हैं। परन्तु राजनेताओं का प्रयत्न कुछ इस ढंग का रहा कि जैसे यह काम स्वयं उनको नहीं, किसी और को करना है। राजनेताओं के वक्तव्य 'पर उपदेश' मात्र बन कर रह गये और मैकाले का जादू स्वतन्त्र भारत के सिर पर ज्यों-का-त्यों चढ़ा रहा।

अब यह सब कहना शायद पुरानी बात को दोहराना मात्र माना जाए। परन्तु सही बात यह है कि हमारे नेताओं में शिक्षा के प्रति वह दृष्टिकोण ही नहीं है जो भारतीय जनता को शिक्षित करने वालों के मन में होना चाहिए। भारत की अस्मिता, भारत की संस्कृति और भारत के व्यक्तित्व को पहचानने की उस असमर्थता ने ही जहाँ हमको अंग्रेजी का गुलाम बनाया है, वहाँ वैज्ञानिक दृष्टि की चकाचौंध ने पश्चिम का नक्काल भी बना दिया है। प्रधानमन्त्री बारम्बार यह कहते हैं कि शिक्षा का असली उद्देश्य युवकों का चरित्र-निर्माण और राष्ट्रीय एकता के प्रति जागरूकता होना चाहिए। परन्तु जब वे व्यवहार के क्षेत्र में उत्तरते हैं तब कम्प्यूटर से आगे नहीं बढ़ पाते। पहले उद्योगीकरण की शिक्षा पर बल दिया गया था और अब नये दस्तावेज में पूरी शिक्षा के ही उद्योगीकरण की योजना बनाई जा रही है। अच्छी शिक्षा क्या होती है और अच्छे शिक्षक को कैसा होना चाहिए, इसका उत्तर उनके पास केवल एक ही है कि सब जगह कम्प्यूटर का विकल्प लागू कर दो। परन्तु क्या शिक्षा केवल औद्योगिक प्रशिक्षण का पर्याय है? इतिहास में शायद शिक्षा का इतना संकीर्ण उद्देश्य कभी नहीं रहा।

एक तरफ शिक्षा को औद्योगिक समाज की जरूरतों के मुताबिक ढाला जा रहा है, भले ही उसमें करोड़ों भारतीयों को अपने जीवन और परम्परा की कोई झलक दिखाई न दे, और दूसरी तरफ कमजोर तथा पिछड़े वर्गों को सुविधाएँ देने की घोषणाएँ की जा रही हैं ताकि सरकार पर यह आरोप न लग सके कि वह केवल सम्पन्न वर्गों को

ही अपने ध्यान में रखती हैं। शिक्षा क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या यही तो रही है कि शुरू-शुरू में छात्रों की संख्या बेशक खूब बढ़ जाती है, परन्तु आगे जाकर जब उन्हें मिलने वाली शिक्षा की दैनिक जीवन के साथ कोई प्रासंगिकता नहीं रहती, तो तरह-तरह की सुविधाओं का प्रलोभन देने पर भी छात्र स्कूलों में नहीं टिक पाते। क्या दैनिक जीवन की वह प्रासंगिकता स्कूलों में ब्लैक-बोर्डों की व्यवस्था करने से पूरी हो जायेगी?

हमारी वर्तमान शासन-प्रणाली और शिक्षा-प्रणाली देश को किधर ले जा रही है, यह उससे उत्पन्न फलों को देखकर समझा जा सकता है। जिस प्रकार प्रान्तवाद, भाषावाद और प्रदेशवाद निरन्तर बढ़ता जा रहा है, उसके रहते राष्ट्रीय एकता की बात करना एक दिवास्वप्न-सा प्रतीत होता है। इस बात को स्वयं राजनेता भी अनुभव करने लगे हैं। इसी २० अप्रैल को महात्मा हंसराज दिवस पर केन्द्रीय बाणिज्य मन्त्री श्री पी० शिवशंकर ने अपने ताजा अनुभव के आधार पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से उत्पन्न होने वाली भावी पीढ़ी का भयावह चित्र उपस्थित किया था। उन्होंने कहा कि जब केन्द्र में मेरे पास विधि विभाग था तब मैं पूना लाँ कालेज में भाषण देने गया। जब वहाँ मैंने अंग्रेजी में भाषण देना शुरू किया तो छात्रों ने कहा कि 'हमको अंग्रेजी में बात उतनी समझ में नहीं आती जितनी मराठी में समझ में आती है, इसलिए आप कृपा करके मराठी में भाषण दें।' फिर उन्होंने कहा कि जब मैं आनंद प्रदेश में उस्मानिया विश्वविद्यालय में गया तो वहाँ के विधि महाविद्यालय के छात्रों ने तेलुगु में भाषण देने की प्रार्थना की। जब कलकत्ता में गया तो वहाँ के छात्रों ने केवल अपनी भाषा के ममत्व के कारण नहीं, बल्कि अपनी व्यावहारिक कठिनाई के कारण बंगला भाषा का याग्रह किया। इस प्रकार भाषावार राज्यों के निर्माण के पश्चात् प्रत्येक राज्य में जहाँ प्रदेशवाद की भावना बड़ी है, वहाँ साथ ही अपनी

प्रादेशिक भाषाओं के प्रति आग्रह भी बढ़ा है। यह स्वाभाविक है। इस आग्रह के कारण शिक्षा का माध्यम भी ऊँची-से-ऊँची कक्षा तक प्रादेशिक भाषा को ही बनाया जाना जनता को सन्तुष्ट करने के लिए आवश्यक हो गया। श्री शिवशंकर ने कहा कि इस स्थिति के कारण जब मैं भविष्य की कल्पना करता हूँ तो मुझे दिखाई देता है कि हरेक राज्य के उच्च न्यायालय में जो न्यायाधीश होंगे वे अपनी भाषा से कानून का अध्ययन करने वाले, अपनी प्रादेशिक भाषा में ही मुवक्किलों और वकीलों की बहस सुनने वाले, और अपनी प्रादेशिक भाषा में ही फैसला लिखने वाले होंगे। जब इन उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय में पदोन्नत होकर पहुँचेंगे तो विभिन्न राज्यों से आये इन न्यायाधीशों के पास आपसी संवाद का कोई माध्यम नहीं रहेगा। वे आपस में किस भाषा में विचार-विनिमय करेंगे क्योंकि उनका सारा जीवन तो अपनी प्रादेशिक भाषा के माध्यम से काम करते हुए बींता होगा ?

अंग्रेजी के पक्षधर इसी स्थिति की कल्पना करते हुए अंग्रेजी की अनिवार्यता पर बल देते हैं और वे कहते हैं कि अंग्रेजी ही राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है। परन्तु इसके पीछे केवल अंग्रेजी के प्रति सुविधाजन्य मोह और संविधान के द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित हिन्दी के प्रति द्रोह के सिवाय और कुछ नहीं है। कम्प्यूटर और औद्योगिकरण की सभ्यता को शिक्षा में महत्व देने वाले अंग्रेजी के इस मोह से कभी उबर नहीं सकते और जब तक यह अंग्रेजी का मोह बरकरार रहेगा तब तक भारत की ६८ प्रतिशत जनता उससे लगातार कटी रहेगी। इसलिए अब भी राष्ट्रीय एकता का सबसे सबल माध्यम कोई भाषा हो सकती है तो हिन्दी ही हो सकती है। परन्तु जब तक मैंकाले के जादू से प्रभावित हमारा शिक्षा-तन्त्र और प्रशासन-तन्त्र विद्यमान है, तब तक वह यही राग अलापता रहेगा कि हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जायेगी। अंग्रेजी को थोपने में उन्हें कोई

आपत्ति नहीं, न उन्हें कोई अनौचित्य प्रतीत होता है। परन्तु हिन्दी की बात आते ही उसमें उन्हें साम्राज्यवाद की गन्ध आने लगती है। इसलिए शिक्षा प्रणाली में अगर राष्ट्रीय एकता के बीज बोने हैं तो भाषावार प्रान्तों के निर्माण की हिमालय जैसी भूल के पश्चात् अब केवल एक ही उपाय वचता है और वह उपाय यह है कि हिन्दी को सब राज्यों में अनिवार्य किया जाय। शिक्षा को समवर्ती सूची में रखने का सबसे बड़ा लाभ यही हो सकता है। उसका उद्देश्य तथा-कथित माडल स्कूल खोलकर केवल उसे सरकारी अफसरों और नवधनाढ़ीयों के परिवारों की जरूरतें पूरी करना नहीं होना चाहिए।

जहाँ तक भारतीय संस्कृति और भारत की प्राचीन विरासत का प्रश्न है वहाँ यह बात भी निर्विवाद है कि भारतीय अस्मिता की जैसी वाहक संस्कृत भाषा है, वैसी कोई और भाषा नहीं। इसलिए यदि प्राचीन भारत से नवीन भारत को जोड़ना है तो, और बिना नींव के इक्कीसवीं सदी के राष्ट्र का निर्माण नहीं करना है तो, संस्कृत को भी यथोचित महत्त्व देना होगा। शिक्षा का उद्योगीकरण उतना आवश्यक नहीं है, जितना संस्कारीकरण आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा का असली उद्देश्य मानव को सुसंस्कृत बनाना ही है। शिक्षा की असली चुनौती यही है। परन्तु हमारे नेताओं के सोचने का ढंग बिल्कुल उलटा है और वे कम्प्यूटर के द्वारा नई शिक्षा के माध्यम से नये भारत का निर्माण करना चाहते हैं। यह 'उल्टे बाँस बरेली को' वाली कहावत को चरितार्थ करना है।

[४ मई, १९८६]

## एक कर्मठ व्यक्तित्व

अकाल मृत्यु होती है या नहीं, इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद होता है। कभी-कभी बुद्धिमान् लोग भी उसके पक्ष-विपक्ष में तर्कों के तरक्स लेकर ऐसे खड़े हो जाते हैं, जैसे युद्ध के मैदान में योद्धा आमने-सामने खड़े हों। कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा ने मनुष्य की आयु १०० वर्ष निर्धारित की है, इसलिए इस आयु से पहले होने वाली प्रत्येक मृत्यु अकाल मृत्यु है। दूसरे लोग कहते हैं कि अकाल मृत्यु कभी होती ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु तभी होती है, जब उसका 'काल' आता है। किसका काल कब आता है? इसका फैसला मनुष्य के हाथ में नहीं है, वह तो विधाता के हाथ में है। इस प्रकार इस बहस का कहीं अन्त नहीं है।

अकाल मृत्यु होती हो या न होती हो, पर एक बात निश्चित है कि प्रत्येक जन्मधारी प्राणी के लिए मृत्यु अवश्यम्भावी है। यम के दूत न तपस्वी और योगी को छोड़ते हैं, न महामृत्युंजय का मन्त्र जपने वाले मन्त्रद्रष्टा कृषियों को, न वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर भगाने वाली औषधियों का आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिकों और चिकित्सकों को, न मृत्यु से डरने वाले योद्धाओं को, न दानियों को, न सेवकों को। मृत्यु तो एक ऐसा महान् सपाट समतल बना देने वाला यन्त्र है, जो ऊँचड़-खाबड़, ऊँचे-नीचे, गड्ढों और टीलों को समान रूप से इक्सार कर देता है। परन्तु मृत्यु का देवता भी मानव जगत् से एक बात नहीं छीन सका। जब एक दिन मरना अवश्यम्भावी है तब ऐसा क्यों होता है कि किसी के महाप्रयाण पर लोग कहते हैं कि इस व्यक्ति को अभी नहीं जाना चाहिए था, देश और जाति का जो उपकार इसके

माध्यम से हो रहा था, उसके लिए उसको और ठहरना चाहिए था। और किसी-किसी हत्तेभाग्य मानव के लिए जनता यह क्यों कहती है कि अच्छा हुआ अमुक व्यक्ति चला गया, उसके जाने से तो धरा का भार कुछ कम हो गया।

शायद मृत्यु के पश्चात् लोकमानस की यह प्रतिक्रिया ही किसी व्यक्ति के जीवन की निरथेकता और सार्थकता की सबसे बड़ी कसौटी है। जिसके जाने पर सब लोग कहते हैं कि इसे अभी नहीं जाना चाहिए था, वह अकाल मृत्यु है, और जिसके जाने पर लोग पृथ्वी का भार हल्का अनुभव करते हैं, वह काल मृत्यु कही जानी चाहिए।

श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने जैसा कर्मठ जीवन बिताया उसका उदाहरण मिलना कठिन है। अपने योवन के प्रारम्भ में ही आर्यसमाज के प्रति प्रेम ने उनके जीवन की धारा पलट दी। और उसके बाद पूरे ५० वर्ष तक अनन्य निष्ठा के साथ आर्यसमाज की सेवा में लगे रहे। आर्यवीर दल के संचालक के रूप में आर्यवीर दल को जिस शिखर पर उन्होंने पहुँचाया है, वह अतुलनीय है। संसद सदस्य के रूप में धर्म स्वातन्त्र्य विधेयक प्रस्तुत करके जो राजनीति-दर्शन का सही मार्गदर्शन किया, वह भी अतुलनीय है। और सार्वदेशिक के महामन्त्री के रूप में अलवर, मोरिशस, नेरोबी और लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलनों का आयोजन करके आर्यसमाज को देश-देशान्तर में जिस ऊँचाई का स्पर्श करने का सौभाग्य प्रदान किया वह भी अतुलनीय है। ऐसे कर्मठ व्यक्ति के निधन पर यह भावना सहज ही मन में उठती है—

“अभी यह व्यक्तित्व कुछ और समय तक हमारे बीच रहता तो कितना अच्छा होता !”

### मुस्लिम महिला विधेयक

आखिर मुस्लिम महिला विधेयक पास हो ही गया। इसके लिए

कांग्रेसी नेताओं ने जो पैतरेवाजी की है, इसे भले ही वे अपनी राजनीति-कुशलता समझ लें, परन्तु वस्तुतः वे जन-साधारण के मन से उतर चुके हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि आजकल के कांग्रेसी विद्यायकों और संसद सदस्यों में सिवाय 'जी-हजूरी' के न तो देशहित के प्रति कोई उत्साह बचा है और न अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सुनने की शक्ति। उनकी इसी मेरुदण्ड-हीनता का लाभ उठाकर ह्विप जारी किया गया और उसने सचमुच ही ऐसे चाबुक का काम किया जैसे सर्कंस के रिंग मास्टर का चाबुक करता है। आश्चर्य उन कांग्रेसी संसद सदस्यों पर है, जो मतदान के समय संसद में उपस्थित नहीं रहे। परन्तु और कांग्रेसी नेताओं में शायद इतनी हिम्मत भी नहीं है कि उन अनुपस्थित सदस्यों के प्रति अनुशासन-भंग की कार्यवाही करके उनको पार्टी से निकाल सकें। क्योंकि वैसा करने पर असन्तुष्ट गुट को और पनपने का मौका मिल जाएगा। फिर विद्येयक तो आसानी से पात हो ही गया, इसलिए उनको छेड़ने की जरूरत ही क्या है। पर इससे संगठन की नींव अवश्य डावांडोल हो गई है।

इस विद्येयक का उद्देश्य मुसलमानों में असुरक्षा की भावना समाप्त करना नहीं है, बल्कि उनमें असुरक्षा की भावना और बढ़ाना है, ताकि वे अपनी मुरक्का के लिए हमेशा कांग्रेस की ओर निहारते रहें और कांग्रेस को वोट देने में ही अपने आपको सुरक्षित अनुभव करते रहें। भले ही कठमुल्लों के बहकावे में आकर प्रधानमन्त्री ने यह कदम उठाया हो, पर इससे इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि मुसलमानों की दृष्टि में कांग्रेस और नेहरू-परिवार की साख बढ़ गई। उन्हें वे औरों से ज्यादा मुसलमान नजर आने लगे। पाठक भूले नहीं होंगे, कभी सरदार पटेल कहा करते थे कि सारे भारत में एक ही राष्ट्रवादी मुसलमान है और उसका नाम है पण्डित जवाहरलाल नेहरू। आज के मुसलमान यदि राजीव गांधी के सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार की बात कहें तो आश्चर्य नहीं। जो कांग्रेस अभी तक

सम्प्रदायों और जात-बिरादरी के समीकरण पर चलती आई है, उसने फिर उसी समीकरण को आगे बढ़ाने में अपना भविष्य सुरक्षित समझा है।

इस विधेयक को मुस्लिम औरतों की सुरक्षा की गारण्टी बताया गया है। पर गुजारे-भत्ते के लिए तलाकशुदा पति के बजाय पिता और भाइयों तथा अन्त में वक्फ वोर्ड पर जिम्मेवारी डालकर वही हास्यास्पद स्थिति पैदा कर दी गई है, जैसेकि रहने के लिए घर न होने पर 'सारा जहाँ हमारा' के नारे में दिखाई देती है। भूतपूर्व लोकसभा अध्यक्ष, उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश और भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष के ० एस० हेगडे का कहना है कि यह विधेयक संविधान द्वारा दिये गये समानता के बुनियादी नागरिक अधिकार का उल्लंघन करता है, इसलिए यह संविधान के विरुद्ध है। इसमें मुस्लिम महिलाओं के साथ दूसरे समुदाय की महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव बरता गया है। उनका यह भी कहना है कि संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों के अनुच्छेद ४४ के विरुद्ध होने के कारण यदि कोई व्यक्ति इस विधेयक को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दे तो उच्चतम न्यायालय इसे रद्द कर सकता है। क्या कोई आरिफ वेग ऐसी हिम्मत करेगा ?

### सिन्ध के हिन्दुओं पर पाकिस्तानी अत्याचार

जैकवाबाद और सखर (पाकिस्तान) में २ फरवरी, १९८६ के दिन पाकिस्तानी नर-पिशाचों ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किए उसकी करणकथा 'खालसा-सिख फैडरेशन ऐसोसिएशन जैकवाबाद' की ओर से प्रसारित अपील में दी गई है। यहाँ हम उसका सार संक्षेप में दे रहे हैं—

२ फरवरी, १९८६ को साढ़े आठ बजे से एक बजे तक राक्षसी माया का जो नग्न प्रदर्शन जिन पाकिस्तानी नर-पिशाचों ने किया

उसमें उन्होंने जैकबाबाद के इक्कीस मन्दिरों और गुरुद्वारों को भूमिसात् करके सारी सम्पत्ति या तो लूट ली या भस्मसात् कर दी। इस प्रकार हिन्दुओं की पाठशालाएँ, विद्यालय और गौशालाओं, यहाँ तक कि शमशान भूमि को भी भस्मसात् कर दिया। इन स्थानों पर विद्यमान पुस्तकालय नष्ट कर दिए। हजारों पुस्तकें, धर्म ग्रन्थ, पाण्डुलिपियाँ तथा देवी-देवताओं के चित्र राख के ढेर में बदल दिए। इसी प्रकार सखर में १४ मन्दिर तथा गुरुद्वारों को भस्मसात् कर दिया गया। पाठशालाएँ, गौशालाएँ, शमशानघाट नष्ट कर दिए। सारी सम्पत्ति लूट ली या जला दी।

ऐसोसिएशन ने विश्व के, विशेषतया भारत के, हिन्दुओं से अपील की है कि वे इसके विरोध में सर्वत्र सभाएँ आयोजित कर प्रस्ताव पारित करें और भारत सरकार के माध्यम से पाकिस्तान सरकार को उस विरोध का भास कराकर उस पर दबाव डाला जाय कि वह अपराधियों को दण्ड दे, नष्ट सम्पत्ति का मुआवजा दे और भविष्य में ऐसे लज्जाजनक एवं अशोभनीय दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए पाकिस्तान के हिन्दुओं को पूर्णतया आश्वस्त करे।

[१८ मई, १९५६]

## फिर खतरे की घण्टी

पंजाब में फिर खतरे की घण्टी बजनी शुरू हो गयी है। खास तौर से अमृतसर, गुरदासपुर और फिरोजपुर जिलों के हिन्दुओं का पलायन शुरू हो गया है। इन जिलों के सैकड़ों परिवार हरियाणा के निकटवर्ती स्थानों और दिल्ली में पहुँच रहे हैं। इस बात को स्वयं पंजाब के मुख्यमन्त्री और हरियाणा के मुख्यमन्त्री ने भी स्वीकार किया है।

श्री बरनाला ने अपने मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य और कुछ वरिष्ठ अधिकारियों को करनाल और पानीपत आदि स्थानों में भेज कर पंजाब से आये हिन्दू परिवारों को वापिस चलने के लिए मनाने की कोशिश की है। परन्तु वे हिन्दू परिवार इतने आतंकित हैं कि अनेक आश्वासनों के बाजूद वे लौटने को तैयार नहीं हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि बरनाला की सरकार और पुलिस तथा अर्द्ध-सैनिक बलों की क्षमता पर भी उनको विश्वास नहीं रहा। प्रमुख शहरों में तो सेना और पुलिस की गश्त भी हैं, परन्तु गाँवों में आतंक कहीं ज्यादा है और अकाली दल के असन्तुष्ट गुट ने अब गाँवों को ही अपना मोर्चा बनाया है। वह गुट यह भी कोशिश कर रहा है कि बरनाला समर्थक अकाली दल के कार्यकर्ताओं को गाँव में न घुसने दिया जाय।

अगर यही स्थिति कुछ दिन और चलती रही तो आशंका यह है कि किसी दिन भिडराँवाले की योजना पूरी न हो जाय। आखिर भिडराँवाले की योजना यही तो थी—कि पंजाब में ५२ प्रतिशत सिख हैं और ४८ प्रतिशत हिन्दू। इन ४८ प्रतिशत हिन्दुओं में भी

२५ प्रतिशत हरिजन हैं। बाकी जो २३ प्रतिशत सर्वण हिन्दू बचते हैं: उनमें से एकचौथाई को मौत के घाट उतार दिया जाय, तो बाकी तीनचौथाई हिन्दू अपने आष पंजाब छोड़कर भाग जायेंगे। हरिजनों को मारने की जरूरत नहीं क्योंकि बाद में डरा धमकाकर उनको सिख बना लिया जायेगा और उनसे गुलाम मजदूरों का काम लिया जायेगा। ऐसा लगता है कि आतंकवादी उसी योजना पर योजनावद्ध रूप से अमल कर रहे हैं। पहले की तरह अब भी, इसमें एक विशिष्ट पहलू यह है कि पाकिस्तान आतंकवादियों को पूरी तरह से लिखापढ़ाकर और प्रशिक्षण देकर चोरी-छिपे भारत में भेज रहा है। जैसे पहले 'ब्लू स्टार आपरेशन' से पूर्व एक पाकिस्तानी जनरल भिडराँवाले से आकर मिला था, ठीक उसी प्रकार अब भी जिस दिन आतंकवादियों ने स्वर्ण मन्दिर में खालिस्तान के लिए धर्मयुद्ध की घोषणा की, उस दिन भी वहाँ पाकिस्तानी दूत मौजूद था। लोग तो यह भी कहते हैं कि खालिस्तान के लिए जो घोषणा-पत्र पढ़ा गया वह पाकिस्तान से ही तैयार होकर आया था। इसका प्रमाण यह है कि उस घोषणा-पत्र में उर्दू की जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ था, वह सारी शब्दावली पाकिस्तान में ही प्रचलित है, भारत में नहीं।

श्री बरनाला द्वारा स्वर्ण मन्दिर में पुलिस कार्यवाई करने के बाद अकाली दल में जिस तरह की फूट पड़ी है, वह उनके इतिहास की विरासत है। बारम्बार यह स्पष्ट हो चुका है कि अकाली जब तक सत्ता में नहीं आते तब तक वे एक रहते हैं, परन्तु सत्ता में आते ही उनकी वह एकता भंग हो जाती है। सत्ता प्राप्ति की होड़ उनको स्वार्थ के उस निचले स्तर तक ले जाती है, जहाँ नैतिकता और मानवीयता का भी कोई मूल्य नहीं रहता। क्या महाराजा रणजीत सिंह के समय का इतिहास सिखों की इसी विशेषता का साक्षी नहीं है? इस समय बादल और तोहड़ा ने जिस तरह अकाली दल को तोड़कर अपना अलग विधायक दल बनाने की कोशिश की है, उसमें सिवाय

आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कहाँ किसी प्रकार की नैतिकता का कोई स्थान नहीं हैं। यों श्री बादल सुशिक्षित और समझदार व्यक्ति हैं। जानकार लोग यह भी कहते हैं कि वे अन्दर से साम्प्रदायिकता के उन्माद से ग्रस्त नहीं हैं। राज्य के मुख्यमन्त्री रहने के कारण उनको प्रशासन का भी अनुभव है। अकालियों में बड़े-बड़े फार्मों वाले नौ-दौलतिये किसान-जमींदारों की लाँबी के वे प्रमुख प्रतिनिधि हैं। परन्तु इस समय जैसी कलाबाजी उन्होंने खाई है, उससे उनकी मानसिक विक्षिप्तता का पता लगता है।

स्वर्ण मन्दिर में पुलिस भेजने के कारण वे बरनाला को पापी बताते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि वे स्वयं राष्ट्रीय अखण्डता के पक्षपाती हैं और खालिस्तान के विरोधी हैं। परन्तु सामान्य समझ वाला व्यक्ति भी उनसे पूछ सकता है कि स्वर्ण मन्दिर पर आतंकवादियों का कब्जा हो जाने के बाद खालिस्तान के लिए धर्म युद्ध की घोषणा के प्रतिकार के लिए उन्होंने क्या किया? तब उनकी धर्म-भावना कहाँ गयी थी? तभी स्मरण आता है कि ये वही प्रकाश सिंह बादल हैं जो ट्रक ड्राईवर के वेष में दिल्ली पहुँचे थे और जिस संविधान के प्रति वफादारी की शपथ लेकर उन्होंने पंजाब के मुख्य-मन्त्री पद का उपभोग किया था, उसी संविधान की प्रति जलाई थी। उसके बाद उनकी गिरफ्तारी को भी लोगों ने आतंकवादियों से अपनी जान चाने के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत कदम बताता था। अब वही बरनाला की नाम-राशि वाले श्री बादल चाहे कितना ही कहते रहें कि उन्हें कुर्सी का मोहर नहीं है, परन्तु निश्चित रूप से बरनाला से त्याग-पत्र की माँग करके वे स्वयं उस कुर्सी पर बैठने को उत्सुक हैं।

रहे श्री गुरुचरण सिंह तोहड़ा। वे तो शुरू से ही डबल गेम खेलने के और जोड़-तोड़ के लिए बदनाम रहे हैं। भिडराँवाले को अकाल तख्त में तख्तनशीन करने का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो केवल

श्री तोहड़ा को । उसके बाद “ब्लू स्टार आपरेशन” करवाने में भी तोहड़ा का बहुत-बड़ा हाथ था । अगर उस समय सेना के जवान तोहड़ा को सुरक्षित न निकाल लाते तो भिडराँवाले के लोग उनको जिन्दा नहीं छोड़ते । ये वही तोहड़ा हैं, जिन्होंने अपने नाम को सार्थक करने के लिए अकाल तख्त को तोड़ने की घोषणा की थी । जब आतंकवादियों ने अकाल तख्त में कब्जा करके तोहड़ा को अन्यथा सिद्ध कर दिया तब वे कहते रहे कि आतंकवादी भी तो अपने ही बेटे हैं । अब वही तोहड़ा वज्री मासूमियत के साथ कहते हैं कि यदि बरनाला ने इशारा किया होता तो स्वर्ण मन्दिर को आतंकवादियों से मुक्त करवाने के लिए मैं सत्याग्रहियों का नेतृत्व करने को तैयार था । कोई पूछे कि आपको रोका किसने था ? बल्कि सच तो यह है कि तोहड़ा ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दिया ही इसलिए था कि वे स्वर्ण मन्दिर से आतंकवादियों को निकालने के लिए स्वयं किसी भी प्रकार की कार्रवाई की जिम्मेदारी से मुक्त हो सकें । अब तो श्री तोहड़ा पर यह भी आरोप है कि अकाल तख्त को तोड़ने के बाद उसके गुम्बद पर जो पाँच करोड़ रुपये का सोना लगा था, उस सोने को गायब करवाने में भी उनका हाथ है । ऐसी स्थिति में क्या बादल और तोहड़ा की नेकनीयती पर कोई नेक सिख तनिक भी विश्वास करेगा ?

एक और रहस्य की बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है । अकाल तख्त के पास ही एक पुराना गहरा कुँआ है । उस कुएँ में सीढ़ियाँ लगी हुई हैं । कुएँ की दीवार में एक गुप्त कमरा है । “ब्लू स्टार आपरेशन” के समय इसी गुप्त कमरे में शस्त्रास्त्रों का भारी जखीरा मिला था । अफवाह यह भी है कि उसी कमरे से एक सुरंग शुरू होती है, जो अन्दर ही अन्दर लाहौर में जाकर निकलती है । आतंकवादियों ने अगर अकाल तख्त को तोड़कर उसे दोबारा बनाने का और सारी “कार सेवा” स्वयं करने का जिम्मा लिया था, तो

उसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि अकाल तख्त के तहखाने से उस सुरंग को जोड़कर लाहौर तक आने-जाने का रास्ता साफ कर लिया जाय। सुनने में यह बात जासूसी उपन्यास-सी लगती है। परन्तु कई बार सत्य कल्पना से भी अधिक विचित्र होता है। खालिस्तान-समर्थकों की और पाकिस्तान की साँठगाँठ चल रही है, उसको देखते हुए उपरोक्त रहस्यपूर्ण तथ्य पर विश्वास न करने का कोई कारण नजर नहीं आता। पाकिस्तान के तानाशाह जनरल जिया कितना ही कहते रहे कि पाकिस्तान में खालिस्तानियों को प्रशिक्षण नहीं दिया जाता, परन्तु कु० बेनजीर भट्टो ने जिस प्रकार जिया को खालिस्तानियों का समर्थन न करने की चुनौती दी है, उससे स्वयं जिया की बात असत्य सिद्ध हो जाती है।

इस समय पंजाब की जैसी हालत है, उसमें यह कहना तो बड़ा आसान है कि आतंकवादियों के आतंक से और हत्याओं से घबराकर पंजाब छोड़कर नहीं आना चाहिए। क्योंकि इससे प्रकारान्तर से खालिस्तान के निर्माण का मार्ग ही प्रशस्त होता है। परन्तु अपने जान और माल पर उपस्थित संकट को स्वयं जिन्होंने भोगा है, उनको तब तक यह उपदेश फलदायक प्रतीत नहीं होगा जब तक स्वयं पंजाब सरकार और केन्द्रीय सरकार स्थिति की भयावहता को देखकर कोई कारगर कदम नहीं उठाती। एक बार यदि यह असुरक्षा की भावना पंजाब के सब हिन्दुओं में फैल गयी तो अन्यत्र भी उसकी प्रतिक्रिया हो सकती है। और तब यह खतरे की घण्टी राष्ट्र के लिए कितनी खतरनाक बन जायेगी, यह नहीं कहा जा सकता।

## आर्यसमाज फिर आगे आया

पिछले दिनों आतंकवादियों द्वारा योजनाबद्ध ढंग से पंजाब के तीन सीमावर्ती जिलों में जिस तरह अल्पसंख्यकों की हत्याओं का दौर चला है, उसके कारण उन जिलों से हिन्दुओं का पलायन प्रारंभ हो गया है। यद्यपि श्री वरनाला स्वयं अभी इस समस्या को उतना उग्र नहीं मान रहे, परन्तु हरियाणा के मुख्यमन्त्री ने हरियाणा में पहुँचे हुए इन विपद्ग्रस्त परिवारों के सम्बन्ध में जो चिन्ता प्रकट की है, उससे समस्या की उग्रता का आभास होता है। उन्हीं जिलों के कुछ परिवार दिल्ली भी पहुँचे हैं और उनको आर्यसमाज 'अनारकली' मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में शरण दी गई है। अन्य किसी राजनीतिक या धार्मिक संस्था ने अभी तक इस मामले में कोई पहल नहीं की। परन्तु आर्यसमाज स्थिति को चुपचाप आँख बन्द करके देखता नहीं रह सकता। उसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि १४ मई को ही सार्वदेशिक सभा की ओर से एक शिष्टमण्डल पंजाब की स्थिति का अध्ययन करने के लिए रवाना हो गया था और पूरे एक सप्ताह तक विभिन्न स्थानों का दौरा कर तथा विभिन्न वर्गों के लोगों से मिलकर उस शिष्टमण्डल ने जो रिपोर्ट तैयार की है, वह प्रधानमन्त्री तक पहुँचा दी है।

पाठकों को स्मरण होगा कि सन् १९६४ के मई मास के उत्तरार्द्ध में भी इसी प्रकार जब भिण्डरांवाले ने सारे पंजाब में आतंक का सिलसिला शुरू किया था और अल्पसंख्यकों की हत्याएँ प्रारम्भ की थीं, तब भी आर्यसमाज चुप नहीं रहा था। तब भी उसका शिष्टमण्डल पंजाब का दौरा करने गया था और लौटकर प्रधानमन्त्री

## ८२ : असलियत क्या है

श्रीमती इन्दिरा गांधी को उसकी रिपोर्ट दी थी। उसके बाद 'ब्लू स्टार आपरेशन' हुआ और स्वर्ण मन्दिर को सेना के द्वारा आतंकवादियों से मुक्त करवाया गया।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि आर्यसमाज की रिपोर्ट पर ही इन्दिरा गांधी ने कार्रवाई की थी। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि भारतीय जनता की नब्ज को पहचानने के लिए आर्यसमाज एक तरह से बैरोमीटर का काम करता है और जब राष्ट्र पर कोई संकट उपस्थित होता है तब वह बिना किसी स्वार्थ और बिना किसी लाग-लपेट के जनता की आवाज प्रशासन तक पहुँचाता है। प्रशासन भी यह जानता है कि आर्यसमाज की माँग में न कोई राजनैतिक दुरभिसन्धि है और न ही कई संकीर्ण सम्प्रदायिक स्वार्थ है। आर्यसमाज ने कभी सम्प्रदायिक दृष्टि से सोचना सीखा ही नहीं। उसके सामने कभी कोई राजनैतिक दल या सम्प्रदाय नहीं रहा, हमेशा राष्ट्र और केवल राष्ट्र रहा। इसीलिए उसने सदा सब सम्प्रदायों और सब राजनीतिक दलों से ऊपर राष्ट्रीय हितों को वरीयता दी। आर्यसमाज की यह निःस्वार्थता ही उसे जनता का सही प्रतिनिधि बनाती है और तब प्रशासन को भी उनका औचित्य स्वीकार करना पड़ता है।

अब आर्यसमाज की ओर से माँग की गई है कि पाकिस्तान की सीमा से लगे फिरोजपुर, गुरुदासपुर और अमृतसर जिलों को सेना के हवाले किया जाय, तो यह माँग अकारण नहीं है। पाकिस्तान से प्रशिक्षण प्राप्त करके आतंकवादी चोरी-छिपे इन सीमावर्ती जिलों में प्रवेश करते हैं और अन्धाधुन्ध अल्पसंख्यकों की हत्या करके चाहते हैं कि सब हिन्दू पंजाब छोड़कर चले जायें। वे अपने ऊपर हुए जुल्मों की कहानियाँ जाकर अन्यत्र सुनावें और भारत के शेष प्रदेशों से भाग कर सिख पंजाब आ जावें, तब उनकी योजना के अनुसार खालिस्तान बना बनाया है। इसी नीति पर पाकिस्तान पहले अमल कर चुका

है और अपने इन खालिस्तानी गुणों को भी उसने वही पाठ पढ़ाया है। हम यह जानते हैं कि यदि उनकी यह योजना पूरी हो गई तो खालिस्तान को बनने से रोकना कठिन होगा। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि स्वतन्त्र भारत की सरकार दुष्टों के अभिप्रायों को कभी पूरा नहीं होने देगी। जो लोग यह सोचते हैं कि भारत की सहायता से बांग्लादेश बन गया तो पाकिस्तान की सहायता से खालिस्तान क्यों नहीं बन सकता, वे मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं। अगर पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन हुआ था तो उसका कारण आंग्ल-अमेरिकी गुट की कूटनीति और कांग्रेस का उस चाल में फँस जाना था। पर अब आजाद हिन्दुस्तान ऐसी किसी चाल में फँसने वाला नहीं है। कहा जा सकता है कि जिस कांग्रेस का शासन तब था, अब भी तो उसी कांग्रेस का शासन है। पर हम यह समझते हैं कि अगर कांग्रेस ने उस समय की गलती को इस बार फिर दोहराया तो आज का स्वतन्त्र और जागरूक नया भारत इस कांग्रेस को भी कभी माफ नहीं करेगा।

फिर हमारे खालिस्तान के समर्थक ये बन्धु यह क्यों नहीं समझते कि पाकिस्तान अगर उनको शह दे रहा है तो उसके मन में केवल अपना स्वार्थ है। आंग्ल-अमेरिकी गुट भी पाकिस्तान को शह देकर भले ही भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहे और उसका अंग-भंग करना चाहे, परन्तु यदि यही सिलसिला आगे बढ़ा तो कहने की आवश्यकता नहीं कि खालिस्तान तो क्या बनेगा, बल्कि पाकिस्तान का नाम भी संसार के मानचित्र से मिट जायेगा। क्या पाकिस्तान को नहीं दिखता कि रूसी भालू अफगानिस्तान में बैठा हुआ है। रूस और भारत के जवानों के बीच में पिस कर पाकिस्तान का क्या होगा—यह जिया भी समझते हैं। इसीलिए वे इन खालिस्तानियों को अपना मोहरा बनाकर भारत के इन तीन सीमावर्ती जिलों को खालिस्तान नहीं, पाकिस्तान बनाने का स्वप्न भले ही देखते हों,

परन्तु वह स्वप्न कभी पूरा होने वाला नहीं है ।

यही एक बात बरनाला सरकार से भी कहने की है । बरनाला सरकार अपने आपको पंथिक सरकार कहती है और वह पंथ के प्रति ही अपने आपको जिम्मेदार मानती है । क्या उसकी पंजाब में रहने वाले ४८ प्रतिशत हिन्दुओं के लिए कोई जिम्मेदारी नहीं है ? बरनाला का गुरुद्वारों में जाकर जूते साफ करना भले ही उनकी सिख मानसिकता को सन्तोष देता हो, परन्तु उन्हें यह याद रखना होगा कि मुख्यमन्त्री के नाते उन्होंने जिस भारतीय संविधान की रक्षा की शपथ ली है, वह संविधान धर्म-निरपेक्ष राज्य को ही स्वीकृति देता है, किसी धार्मिक राज्य को नहीं । बरनाला ने सिख छात्र-संघ से प्रतिबन्ध हटाकर, 'बैन्स आयोग' की सिफारिश पर उग्रवादियों को छोड़कर और पुनर्वास के नाम पर उन्हें पुरस्कृत करके जो आतंकवाद के प्रति अपने मन का कोमल भाव प्रकट किया था, आज वही उनके रास्ते का काँटा बन गया है । अगर पहले वे यह गलती न करते और उग्रवादियों को स्वर्ण मन्दिर में कब्जा न करने देते, तो यह नौबत न आती । लगता है कि वे तोहड़ा के बिछाये जाल में फँस गये । तोहड़ा तो शुरू से ही 'डबल गेम' खेलने के आदी रहे हैं । अकाल तख्त को तोड़ने की बात कहकर तोहड़ा ने अपने नाम को ही सार्थक किया था । और अब तो उन्होंने खुल्लम-खुल्ला भिण्डरांवाले और खालिस्तान का समर्थन करके अपने चेहरे पर से रही-सही नकाब भी उतार दी है । तोहड़ा शुरू से ही पंजाब समझौते के विरोध में थे परन्तु उस समय लोंगोवाल के सामने उनकी दाल नहीं गली तो कलाबाजियाँ खाने लगे । वे कब क्या रुख अपनायेंगे, इसके बारे में कोई नहीं जानता ।

रहे पटियाला के राजकुमार अमरेन्द्र सिंह और पंजाब के पूर्व मुख्यमन्त्री श्री प्रकाश सिंह बादल । ये दोनों तोहड़ा के विरोधी गुटों के नेता हैं । पर इस समय तीनों गुट बरनाला को हटाने के लिए

इकट्ठे हो गये हैं। अब भी थोड़ा-सा फर्क है। जिस तरह तोहड़ा ने स्पष्ट रूप से खालिस्तान का समर्थन किया है, बादल और अमरेन्द्र सिंह अभी तक खालिस्तान के वैसे समर्थक नहीं हैं और वे अपने वक्तव्यों में बार-बार यह भी घोषित करते हैं कि हमको कुर्सी नहीं चाहिए, हमारा विरोध राजनीतिक नहीं है, हम राष्ट्रीय अखण्डता के पोषक हैं, हम तो केवल धार्मिक दृष्टि से बरनाला का विरोध कर रहे हैं। परन्तु ये दोनों महानुभाव किस प्रकार आत्मविरोधी वक्तव्य दे रहे हैं, यह वे नहीं समझते। उनकी प्रत्येक हरकत आतंकवादियों को प्रोत्साहन देने वाली है। फिर उनका राष्ट्रीय अखण्डता का पोषक होने का क्या अर्थ रह जाता है?

वास्तविकता यह है कि पिछले कुछ वर्षों से सब सिखों की न सही, राजनीति के खिलाड़ी सिखों की मानसिकता कुछ इस ढंग से ढल गई है कि खालिस्तान के नारे के प्रति उनके मन में वह आक्रोश पैदा नहीं होता जो किसी राष्ट्रप्रेमी के मन में होना चाहिए। स्वयं बरनाला भी इस मानसिकता से बरी नहीं हैं। प्रत्येक बात को सिख और गैर-सिख की भावना से सोचना संकीर्ण साम्प्रदायिकता की निशानी है, राष्ट्रीयता की नहीं। यही द्विविधा और दुश्चित्तता अधिकांश सिखों की सबसे बड़ी कमजोरी है। जब तक उनके मन में खालिस्तान और खालिस्तान के समर्थकों के प्रति कुछ भी कोमल भाव रहेगा तब तक वे इसी प्रकार आत्मवंचना करते रहेंगे। एक ओर वे कहते हैं कि आतंकवाद का आश्रय लेकर हिंसा पर उतारू लोग सिख नहीं हो सकते और दूसरी ओर वे उनको सिख मानकर उनके बचाव के लिए भी प्रयत्न करते हैं। यही द्विविधा उनकी राजनीति को और सारे सिख समाज को डावांडोल कर रही है। जब तक सत्य को सत्य कहने की हिम्मत नहीं होगी तब तक सत्य की विजय के लिए कभी हाथ भी नहीं उठेंगे। इस मुद्दे पर समस्त राष्ट्रवादियों को शान्त चित्त से सोचने की आवश्यकता है।

८६ : असलियत क्या है

हम बार-बार कहते हैं कि राष्ट्र समस्त सम्प्रदायों से ऊपर है। परन्तु जब व्यवहार के स्तर पर उतरते हैं तब हम राष्ट्र के बजाय साम्प्रदायिक-स्तर पर ही सारे काम करते हैं। इस समय देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है। पंजाब उस दुर्भाग्य का सबसे बड़ा उदाहरण है।

[ १ जून, १९८६ ]

## सिखो ! हिन्दुओं को बचाओ : हिन्दुओं ! सिखों को बचाओ

अनन्तनाग (कश्मीर) से एक शुभ समाचार मिला है। पिछले दिनों पाकिस्तान-समर्थकों द्वारा कश्मीरी पण्डितों को लूटने, हिन्दू मन्दिरों को जलाने, उनकी महिलाओं को बेइज्जत करने और उनके घरों को बर्बाद करने की जो वारदात हुई थी उसके कारण वहाँ से बहुत सारे कश्मीरी पण्डित कश्मीर छोड़कर चले गये थे। इस प्रकार जाने वालों में कई प्रमुख हिन्दू वकील भी थे। अब अनन्तनाग के मुसलमान वकीलों ने वहाँ काम करना बन्द कर दिया और यह माँग की कि जब तक हमारे भाई और साथी हिन्दू वकील लौटकर नहीं आयेंगे, तब तक हम भी अदालत का बहिष्कार जारी रखेंगे। अपने मुसलमान बन्धुओं की इस सद्भावना से प्रेरित होकर अनन्तनाग छोड़कर गये प्रमुख हिन्दू-वकील वापिस आये और अब वहाँ के वकीलों ने अदालत का बहिष्कार खत्म कर दिया। यह आतंकवाद के ऊपर साम्प्रदायिक सौहार्द और कश्मीर के पारम्परिक सहिष्णुता-प्रधान स्नेह का ढोतक है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कश्मीर में भी भारत-विरोधी आन्दोलन करने वाले और हिन्दुओं को वहाँ से आतंक फैलाकर निकालने वाले कुछ सिरफिरे लोग ही हैं जो पाकिस्तान की शह पर काम करते हैं। कश्मीर की आम जनता में अभी तक हिन्दू-विरोधी भावना उस उग्ररूप में नहीं है, जिसकी सारे देश में आशंका थी।

हमें लगता है कि बहुत-कुछ इसी प्रकार की बात पंजाब के अन्दर भी है। इस समय हिन्दुओं को आतंकित करके पंजाब से पलायन के

लिए मजबूर करने वाला जहाँ सिरफिरे सिखों का एक वर्ग है, वहाँ आम सिख बहुमत उस प्रकार का हिन्दू-विरोधी नहीं है, बल्कि वह सदियों से साथ-साथ रहने की उसी स्नेहिल परम्परा का उपासक है जिसके लिए अब तक पंजाब प्रसिद्ध रहा है। आखिर हो भी क्यों न। हिन्दू-सिख कभी अलग थे ही नहीं। जो एक ही माँ के सपूत थे और हमशीर भाई-बहन थे और गुरुओं के शिष्य थे, जिनके पूर्वज, जिनके धर्मशास्त्र और ऐतिहासिक महापुरुष समान थे, जो सैकड़ों सालों के इतिहास के लम्बे दौर में जय-पराजय और हर्ष-विषाद के समान रूप से उपभोक्ता रहे, देश की आजादी के लिए जिन्होंने साथ-साथ खून बहाया और देश के विभाजन की भीषण त्रासदी का जिन्होंने हिन्दुओं के साथ समान रूप से मुकाबला किया, वे आपस में अलग हो भी कैसे सकते थे। परन्तु नहीं, इतिहास कोई बँधी-बँधाई नहर नहीं है। वह तो एक बरसाती नदी की तरह है, जिसमें बाढ़ आने पर कूल-किनारों का कुछ पता नहीं लगता। और बाढ़ के पानी के साथ न जाने कितना कूड़ा-कचरा और मिट्टी बहकर चले जाते हैं। बाढ़ जैब आती है तो पेड़ों को उखाड़ती है, फसलों को बर्बाद करती है और गाँवों को भी उजाड़ती है। परन्तु बरसात का मौसम समाप्त होने पर यह जल-प्रलय का दृश्य भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार इतिहास में भी कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं, जब जातियों की जातियाँ पागल हो जाती हैं। उन्हें भूत-भविष्य कुछ दिखाई नहीं देता और अपने वर्तमान पर अपने हाथों से कालिख पोत लेती हैं। शायद इन्हीं को लक्ष्य करके शायर ने कहा है—

तारीख की नजरों ने वे मंजर भी देखे हैं,  
जब लम्हों ने खता की है, सदियों ने सजा पाई है।

पिछले पाँच साल से पंजाब इसी खता के दौर से गुजर रहा है। इसका बीज अंग्रेज बो गये थे। उन्होंने ही मुस्लिम लीग को भड़का कर पाकिस्तान बनवाया और वे ही अपने पिट्ठुओं की पीठ पर हाथ

सिखो ! हिन्दुओं को बचाओ : हिन्दुओ ! सिखों को बचाओ : ८६

रखकर उनसे खालिस्तान का नारा लगवा रहे हैं। इस खालिस्तान के आन्दोलन की जड़ पंजाब में उतनी नहीं जितनी ब्रिटेन, कनाडा, अमरीका और पाकिस्तान में है। पंचमार्गी किस देश में नहीं हैं और आतंकवादी भी किस देश में नहीं है। परन्तु भारत के इन पंचमार्गियों और आतंकवादियों को जिस प्रकार की शह उपरोक्त विदेशों से मिलती है, वैसी शह और किसी देश के आतंकवादियों को नहीं मिलती। अभी कुछ दिन पहले हो अमरीका ने आतंकवादियों को सहयोग देने के आरोप में लीविया पर जो वमवारी की उसका शोर सारे संसार में मच गया। परन्तु भारत के इन चन्द आतंकवादियों को सहयोग देने के नाम पर संसार की आँखें बन्द हैं।

पंजाब से सैकड़ों परिवार जिन हालात में वहाँ से निकलकर आये हैं, उन हालात को पैदा करने की जिम्मेवारी किसकी है? निश्चय ही पंजाब के आम सिखों की नहीं। पंजाब के आम सिख तो अपने हिन्दू भाइयों के साथ उसी प्रेम से रहना चाहते हैं, जिस प्रेम से अब तक रहते आये हैं। परन्तु ये आतंकवादी उस प्रेम से रहने दें तब न। पंजाब के इन बेरोजगार पढ़े-लिखे युवकों के लिए इस समय आतंक फैलाकर हत्या करना भी एक रोजगार का जरिया बन गया है। अब हत्या एक विजनेस है और इस विजनेस का मालिक है, पाकिस्तान, जिसे औद्योगिक परिभाषा में 'एम्पलॉयर' कहना चाहिए। अपने इन 'एम्पलॉयीज' अर्थात् आतंकवादी कर्मचारियों के लिए सब तरह की सुविधाएँ जूटाता है पाकिस्तान/पाकिस्तान उन्हें अपने वहाँ प्रशिक्षण देता है, उसको आधुनिक हथियार देता है और वे जितने हिन्दुओं की हत्या करें, उसके हिसाब से उनको पैसा देता है। अपने कर्मचारियों का इतना ख्याल रखने वाला मालिक दुनिया में और कहाँ मिलेगा ? फिर जो बैंकों को लूटने से पैसा हाथ में आता है, वह तो इन आतंकवादियों का अपना है ही। साथ ही आतंकवादी गाँवों, कस्बों और शहरों के धनी व्यक्तियों को बुलाकर बन्दूक की नोंक पर

उनको धर्मकी देते हैं कि इतने हजार रुपये दो तो तुम्हारी जान बख्शी जायेगी, नहीं तो तुम नहीं, तुम्हारा परिवार नहीं। ऐसे हालात में हिन्दुओं को वहाँ से भागकर आना पड़ रहा है।

इन आतंकवादियों से निपटने में सबसे बड़ी दो बाधाएँ हैं। पहली बाधा तो यह है कि पंजाब की पुलिस का न केवल मनोवैज्ञानिक हो चुका है बल्कि उसके अधिकांश लोग आतंकवादियों से मिले हुए हैं। इसीलिए वे आतंकवादियों को जानते-पहचानते हैं, फिर भी पकड़ते नहीं हैं। कभी पकड़ते भी हैं तो उन पर दण्ड-संहिता की वे धाराएँ लागू करते हैं, जिन्हें साबित करना कठिन हो जाय और वे आतंकवादी साफ छूटकर निकल जायें।

दूसरी बड़ी बाधा यह है कि बरनाला सरकार अपनी उदारता और देश की अखण्डता के समर्थन का ढोल पीटते हुए भी अपने-आपको पंथिक सरकार कहने से बाज नहीं आती। इसीलिए उसकी दृष्टि में सिख पंथ के अनुयायी तो प्रथम दर्जे के नागरिक हो गये, और पंजाब के जितने इतर लोग हैं, वे दूसरे दर्जे के नागरिक बन गये। किसी भी धर्म-राज्य की सबसे बड़ी खराबी यही है कि वह अपने समानधर्मी लोगों को इतर धर्म वालों से वरीयता देने लगता है। इस दृष्टि से अपने संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार करके भारत सरकार ने सारे संसार में एक अद्भुत आदर्श की स्थापना की है। सच पूछो तो यह सारा संघर्ष साम्प्रदायिकता एवं सम्प्रदाय-निरपेक्षता के बीच है। इस दृष्टि से यह संघर्ष केवल भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं है, यह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष है। भारत के चारों तरफ सम्प्रदाय-सापेक्ष या तानाशाही राज्य स्थापित हैं। कम्युनिस्ट राज्य भी तानाशाही के ही दूसरे रूप हैं। उन सबके बीच में सम्प्रदाय-निरपेक्षता के झण्डे का अलम्बदार बनकर भारत तानाशाही के समुद्र में एक द्वीप की तरह खड़ा है। अगर इस संघर्ष में भारत सरकार पराजित हो जाती है तो यह संसार के भविष्य का

सिखो ! हिन्दुओं को बचाओ : हिन्दुओ ! सिखों को बचाओ : ६१

दिशा-सूचक होगा । और भारत अगर जीत जाता है, जोकि उसे हर हालत में जीतना ही है, तो आतंकवाद के नाम पर उभरी पंथिक स्वार्थों की ओट लेने वाली इस साम्प्रदायिकता को समाप्त करना ही होगा ।

इसलिए बरनाला सरकार को यदि कुछ करना है तो सबसे पहले उसको अपने-आपको पंथिक सरकार कहना छोड़कर पंजाब के समस्त निवासियों की सरकार कहना होगा । उसे हिन्दुओं की रक्षा की जिम्मेवारी भी उसी तरह से निभानी होगी, जिस तरह वह सिखों की रक्षा की जिम्मेवारी निभाती है । हिन्दू और सिख में भेद करना सरकार को शोभा नहीं देता । हम अकाली बन्धुओं से कहना चाहते हैं कि आतंकवाद कभी किसी का सगा नहीं होता । आज वह हिन्दुओं को आतंकित कर रहा है, कल वह सिख अवाम को आतंकित करेगा । इसलिए सबसे पहला काम यह करना चाहिए कि शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी और उसके मुख्य ग्रन्थी यह घोषणा करें कि बेगुनाहों की हत्या करने वाले आतंकवादी हत्यारे हैं, केवल हत्यारे, वे सिख नहीं हैं । इसलिए उनको किसी भी प्रकार की शरण देना या दण्ड से बचाना, स्वर्ण मन्दिर में घुसने देना या अकाल तख्त की कार सेवा करने देना, गैर-सिखी काम हैं । इन आतंकवादियों को तनखैया घोषित क्यों नहीं करते ? सब सिख नेता मंचों से सदा यही कहते हैं कि सिख धर्म बेगुनाहों की हत्या करना नहीं सिखाता । परन्तु जब आतंकवादियों से निपटने का प्रसंग आता है तब तो हड़ा-बादल एण्ड कं. के हृदय में न जाने कहाँ से इन आतंकवादियों के प्रति करुणा का स्रोत उमड़ पड़ता है । चोरों के साथी भी हमेशा चोर होते हैं । इसलिए जिस दण्ड के पात्र ये आतंकवादी हैं वही दण्ड तो हड़ा एण्ड कं० को भी मिलना चाहिए ।

हम पंजाब के सिखों से अपील करते हैं कि जिस तरह अनन्तनाग के मुसलमानों ने आग्रह करके वहाँ के कश्मीरी पण्डितों को वापिस

## ६२ : असलियत क्या है

बुलाया है, उसी तरह वे भी पंजाब सरकार से आग्रह करें और स्वयं संगठित होकर आन्दोलन करें कि पंजाब से गए हुए सब हिन्दू जब तक वापिस नहीं आयेंगे तब तक हम चैन से नहीं बेठेंगे। इसी प्रकार का आन्दोलन पंजाब से बाहर के सिखों को करना चाहिए। जहाँ हम सिखों से यह अपील करते हैं, वहाँ सारे देश के हिन्दुओं से भी यह अपील करते हैं कि देश का कोई ऐसा हिस्सा नहीं है, जहाँ सिख न बसते हों, पंजाब में आतंकवादियों की कारगुजारी की सजा पंजाब के बाहर के सिखों को नहीं मिलनी चाहिए। किसी सिख का बाल-बांका नहीं होना चाहिए। सब अपने को पूरी तरह सुरक्षित समझें और वे किसी भी सूरत में और किसी भी प्रलोभन से भागकर पंजाब जाने के लिए विवश न हों। सिखो ! तुम पंजाब के हिन्दुओं को बचाओ, और समस्त देश के हिन्दुओ ! तुम पंजाब के बाहर के सिखों को बचाओ, तभी देश का भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

[८ जून, १९८६]

## गुरुग्रन्थ साहब पर हाथ रखकर बोलो

पिछले दिनों जब यह समाचार आया कि दिल्ली में भी कुछ लोग शिवसेना के नाम से लोगों को त्रिशूल बाँट रहे हैं, तो दिल्ली के सिखों को सन्'८४ के नवम्बर के दंगों की याद आना स्वाभाविक था। सन्त लोंगोवाल ग्रुप के जत्थेदार रिछपाल सिंह ने इस पर चिन्ता व्यक्त करते हुए सरकार को सावधान किया और भारत सरकार से माँग की कि पंजाब से हिन्दुओं का पलायन रोकने के लिए वहाँ के सीमावर्ती जिलों में सेना तैनात की जाये। यह वही माँग है जो पहले आर्य-समाज के नेताओं ने की थी, पीछे भारतीय जनता पार्टी ने इस माँग की पूर्ति के लिए आन्दोलन किया—जो अब भी चल रहा है। अन्य क्षेत्रों से भी इस प्रकार की माँग की जा रही हैं। पर न भारत सरकार इसके लिए तैयार है, न बरनाला सरकार। प्रधान सेनापति के० सुन्दरजी और पंजाब में पुलिस महानिदेशक श्री रिबेरो भी सीमावर्ती जिलों को सेना को सौंपने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि यह काम पुलिस के ही करने का है, सेना तो अन्य बड़े कामों के लिए है।

फिर भी भारत सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस (सी.आर.पी) और सीमा सुरक्षा बल (बी.एस.एफ) की कई टुकड़ियाँ बरनाला सरकार की माँग पर पंजाब भेजी हैं और उन्हें सीमावर्ती जिलों में कानून और व्यवस्था संभालने की जिम्मेदारी सौंपी है। इधर १ जून से ७ जून तक घल्लूघारा सप्ताह में आतंकवादियों ने निरपराध व्यक्तियों की हत्या की संख्या और बढ़ा दी। सच तो यह है कि ब्लू स्टार आपरेशन के बाद उसकी स्मृति में मनाए जाने वाले गत दो घल्लूघाराओं की अवधि के दौरान जितने लोगों की हत्या आतंकवादियों ने की है, उतने लोग तो कुल मिलाकर ब्लू स्टार आपरेशन

के दौरान भी नहीं मारे गये होंगे । हत्याओं के इस वीभत्स दौर से सब चिन्तित हैं—हिन्दू भी, सिख भी । पंजाब से पलायन बदस्तूर जारी है । हिन्दुओं को धमकी भरे पत्र मिल रहे हैं, उन्हें पंजाब छोड़ने को कहा जा रहा है । बन्दूक की नोंक से उनसे रुपया छीना जा रहा है और महिलाओं की बेइज्जती की चेतावनी दी जा रही है । साथ ही यह भी कहा जा रहा है कि पंजाब के हिन्दुओं की जमीन-जायदाद जो भी खरीदेगा, उसे उसका परिणाम भुगतना होगा ।

इस विषम समस्या का समाधान क्या है ?

आतंकवादी किसी भी तरह हिंसा से विरत होने को तैयार नहीं हैं । कुछ लोग अनशन, धरना और सत्याग्रह की बात करते हैं, कुछ लोग इंट का जवाब पत्थर से देने की बात करते हैं । त्रिशूल वितरण की बात से भी लोग आतंकित हैं । लगता है, जैसे देश गृह-युद्ध की विभीषिका की ओर बढ़ता जा रहा है । थोड़े से आतंकवादियों ने देश की एकता और अखण्डता को दाँव पर लगा रखा है । वे अपना अलग विधान, अलग निशान और अलग प्रधान बनाने पर आमादा हैं । खालिस्तान के लिए स्वर्ण मन्दिर से धर्मयुद्ध की घोषणा करके भाग जाने वालों ने भी यह माँग नहीं की थी । अब आतंकवादी आनन्दपुर साहब प्रस्ताव के उस विवरण को मानने को तैयार नहीं जो लोंगो-बाल ने पेश किया था या जो सरकारिया आयोग को दिया गया है । अब तो वे कहते हैं कि आनन्दपुर साहब का मूल प्रस्ताव ही हमें मान्य है जिसमें अलग विधान, अलग निशान और अलग प्रधान की बात कही गई है । कहना चाहिए कि अब बिल्ली पूरी तरह थैले से बाहर आ चुकी है । अब कहीं लुकाव-छिपाव या लाग-लपेट की बात नहीं है । एक ओर ये चन्द आतंकवादी हैं और दूसरी ओर सारा देश है—जिसमें कुछ सिरफिरों को छोड़कर सारे सिख भी शामिल हैं ।

घल्लूधारा सप्ताह शुरू होने से पहले ही पुलिस पूरी तरह, स्वर्ण मन्दिर से हटा ली गई थी । फिर भी शहीदी समागम के नाम से एकत्र

हुए सिख छात्र संघ और दमदमी टकसाल के हिंसक लोगों ने स्वर्ण मन्दिर की परिक्रमा में तैनात रक्षकों को बड़ी बेरहमी से पीटा और अवतार सिंह की हत्या कर दी। क्या अब निहत्थे रक्षकों की हत्या से स्वर्ण मन्दिर की 'पवित्रता' स्थापित की जाएगी। जो सिख अब भी यह मानते हैं कि स्वर्ण मन्दिर में हिंसा करने से या स्वर्ण मन्दिर में छिपकर बाहर हिंसा करने से और फिर वापिस आकर वहाँ शरण लेने से स्वर्ण मन्दिर की पवित्रता भंग नहीं होती, किन्तु इस हिंसा को रोकने के लिए गई पुलिस से और सैनिकों से दरबार साहिब की पवित्रता भंग होती है, वे जरा गुरुग्रन्थ साहब पर हाथ रखकर बोलें कि यह कैसी पवित्रता है? आज तक सिख समाज इन तथाकथित धर्म-रक्षकों से स्वर्ण मन्दिर की रक्षा करने की कोई व्यवस्था नहीं कर पाया। लेकिन इन हत्यारों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करने वाली पुलिस से सिखों की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचती है, तो यह कौन-सी धार्मिक कसौटी है? आखिर, अमरेन्द्र सिंह, बादल और तोहड़ा इसीलिए तो बरनाला सरकार के खिलाफ हुए क्योंकि उसने पुलिस कार्रवाई करके इन देशद्रोही आतंकवादियों को वहाँ से निकाला। तोहड़ा-बादल एण्ड को० ने परिक्रमा में आतंकवादियों द्वारा की गई हिंसा को न तो रोका और न उसकी निन्दा में एक शब्द कहा, बल्कि वे सारे समय उन्हीं की हाँ-में-हाँ मिलाते रहे। फिर भी वे चाहते हैं कि देशवासी यह मान लें कि ये लोग खालिस्तान, आतंकवाद और हिंसा के खिलाफ हैं।

हम बार-बार कह चुके हैं कि आतंकवाद किसी का सगा नहीं होता। समस्त सिख समाज को सबसे पहले अपने मन में साफ होना होगा कि खालिस्तान के नाम से आतंकवाद के हिमायती और पाकिस्तान के वेतनभोगी इन हत्यारों के प्रति उसके मन में कोई दया-भाव तो नहीं है। यदि इन आतंकवादियों को 'हमारे बच्चे' कहकर प्रेम मिलता रहा, तो आतंकवाद कभी समाप्त नहीं होगा। समस्त सिख

समाज अकाल तख्त के मुख्य ग्रन्थियों से यह माँग कर्यों नहीं करता कि इन आतंकवादियों को 'तनखैया' घोषित किया जाए, उन्हें सिख मानने से इन्कार किया जाए और कोई सिख उन्हें किसी भी प्रकार की सहायता या शरण न दे। सरकार तो छोटी हिंसा को बड़ी हिंसा से समाप्त करने की ही भाषा जानती है। परन्तु सिख समाज का संगठित रूप इस आतंकवाद को अपनी पंथिक परम्परा को कायम रखते हुए इस समस्या को कहीं अधिक अच्छे ढंग से सुलझा सकता है।

सारा सिख समाज लगभग चालीस सन्तों के मार्गदर्शन में चलता है। अगर ये चालीस-के-चालीस सन्त आतंकवादियों को 'गैर सिख' करार दें, खुले रूप से उनकी निन्दा करें और बादल तथा तोहड़ा जैसे उनके समर्थकों की निन्दा में प्रस्ताव पास करें, तो इस आतंकवाद की समस्या का समाधान निकल सकता है। खालिस्तानवाद और भारतवाद के बीच इस संघर्ष में सारा देश मुख्यग्रन्थियों का साथ देगा।

पंजाब से हिन्दुओं का पलायन रोकने के लिए भी पंजाब के अन्दर के और बाहर के सिखों को ही पहल करनी होगी। सिखों की पहल की बात हम इसलिए कह रहे हैं कि हिन्दुओं के पहल करने पर तुरन्त उन पर साम्प्रदायिकता का लेबल लगाया जायेगा। यदि पंजाब के बाहर के पांच-सौ हजार, या केवल सौ-दो-सौ सिख भी शान्ति-मार्च करते हुए पंजाब जाएँ और बरनाला सरकार से आग्रह करें कि हिन्दुओं को वापिस बुलाकर उन्हें पूर्ण सुरक्षा दी जाए, तो हमें विश्वास है कि पंजाब के आम सिख भी इस आन्दोलन में उनका पूरा साथ देंगे, आतंकवादियों का मनोबल घटेगा, पुलिस का मनोबल बढ़ेगा और देश में हिन्दू-सिख सौहार्द का नया अध्याय खुलेगा।

देश की एकता और पंजाब में शान्ति के लिए यदि यह रास्ता नहीं अपनाया जाता, तो दूसरा रास्ता आत्म-विनाश का है। हिन्दू-सिख दोनों को सोचना है कि वे कौन-सा रास्ता अपनाएं।

## अब हरियाणा हरि बोल !

आयोगों का भी यह कैसा योगायोग है कि वे सदा हरियाणा को ही कहते हैं। कभी 'बहुधान्यक' के नाम से प्रसिद्ध, सिकन्दर के तथा अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के दांत खट्टे करने वाले यौद्धेयों की यह भूमि भी कैसी विचित्र है कि राष्ट्रहित के नाम पर जब-जब उसे कसौटी पर कसा गया, तब-तब वह खरी उतरी। पानीपत के मैदान में बार-बार हारकर भी न तो उसने अपना 'पानी' गंवाया न 'पत' गंवाई। अब उसका पानी और पत दोनों कसौटी पर थे, तो फिर उसने राष्ट्रहित की खातिर वैकटरमैया आयोग की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया।

जरा हरियाणा के धैर्य की बानगी देखिए। शाह आयोग ने फैसला दिया कि चण्डीगढ़ हरियाणा को दिया जाए क्योंकि वह हिन्दीभाषी है, केवल इसीलिए नहीं, बल्कि इसलिए भी कि स्वयं चण्डीगढ़ की जनता वैसा चाहती है। शाह आयोग के सामने जितने गवाह आए, सबने यही बात कही। आज तक चण्डीगढ़ से जीतकर आने वाला प्रत्येक संसद सदस्य भी इसी मुद्दे पर जीतकर आता रहा कि चण्डीगढ़ हरियाणा को मिले, या केन्द्र के आधीन रहे। पर सबसे पहले इन्दिरा गांधी ने ही इस फैसले को तोड़ा।

आज यह बात सुनने में विचित्र लग सकती है, पर इन्दिरा गांधी ने खासतौर से सिखों की समय-स मय पर जितनी प्रशंसा की, उतनी आज तक अन्य किसी राष्ट्रीय नेता ने नहीं की होगी। सिखों के प्रति यदि इन्दिरा गांधी के मन में कोमल भाव न होता, तो वह पंजाब का विभाजन कभी न करतीं। आखिर पं० जवाहरलाल नेहरू के

## ६८ : असलियत क्या है

समय आमरण अनशन और आत्मदाह की धमकियाँ कितनी बार आईं, पर नेहरू टस से मस नहीं हुए। इन्दिरा गांधी ने देश की बागडोर सम्भालते ही सिखों की माँग मानकर हरियाणा को अलग करके पंजाब में सिखों का बहुमत बनाया, चण्डीगढ़ भी सिखों को देने की घोषणा की।

कहा जाता है कि चण्डीगढ़ बना ही पंजाब के लिए था। पर यह दावा करने वाले यह भूल जाते हैं कि जिस पंजाब के लिए यह सुन्दर शहर बना था, वह यह विभाजित पंजाब नहीं था, बल्कि वह संयुक्त पंजाब था जिसमें हरियाणा और हिमाचल भी शामिल थे। इसलिए चण्डीगढ़ पर जितना दावा पंजाब का है, उससे कम किसी भी हालत में हरियाणा और हिमाचल का नहीं है। पर सिखों का मन रखने के लिए इन्दिरा गांधी ने चण्डीगढ़ केवल पंजाब को देने की घोषणा की और अबोहर-फाजिल्का हरियाणा को। हालांकि चण्डीगढ़ के बदले अबोहर-फाजिल्का देना ऐसा ही था जैसे महल के बदले झोंपड़ी देना। पर हरियाणा ने मन मारकर यह भी स्वीकार किया।

फिर आया राजीव लोंगोवाल समझौता। उस समझौते में यद्यपि राजस्थान और हरियाणा कोई पार्टी नहीं थे और उन दोनों राज्यों की अनुमति के बिना उनके बारे में कोई समझौता करना सुसंगत भी नहीं था। पर समझौते में स्पष्ट ही उन दोनों राज्यों को पंजाब की दया पर छोड़ने की झलक थी। फिर भी उक्त दोनों राज्यों ने उस समय कोई बावेला नहीं मचाया और प्रधानमन्त्री की सदाशयता पर विश्वास किया।

तब आया मैथ्यू आयोग यह फैसला करने के लिए कि हरियाणा को कौन-कौन से गांव दिये जाएँ। मैथ्यू आयोग में सच कहने की हिम्मत होती, तो वह भाषा के आधार पर अबोहर-फाजिल्का हरियाणा को देने का फैसला करता। पर तब कन्दूखेड़ा ने बखेड़ा खड़ा कर दिया। सटाव की शर्त ने अबोहर-फाजिल्का हरियाणा को

नहीं देने दिया। हमें न्यायाधीश महोदय की नेकनीयती पर शक नहीं है। पर उन्हें स्पष्ट रूप से यह कहना चाहिए था कि सरकार प्रताप सिंह कैरों के समय उनके वित्तमन्त्री ज्ञानी करतार सिंह ने कन्दूखेड़ा को मुक्तसर तहसील में मिलाकर जान-बूझकर शरारत की थी। अब उस शरारत को ठोक किया जाना चाहिए। या वे यह कह सकते थे कि न्यायाधीश का काम केवल शब्दों पर जाने के बजाय व्यावहारिक पहलू को भी देखना होता है। जैसे गणित में निकटतम पाई के सिद्धान्त के अनुसार पाइयों की संख्या छोड़ दी जाती है, वैसे ही राजीव लोंगोवाल समझीते की तीन शर्तें पूरी होने पर सटाव वाली कसौटी छोड़ी जा सकती है। यदि वे इतनी हिम्मत करते तो अबोहर-फाजिल्का के बारे में दो-टक फैसला देने में उन्हें कोई परेशानी नहीं होती। कन्दूखेड़ा और वार्डिदपुर की पंजाबी भाषी पट्टी के कारण अबोहर-फाजिल्का से हरियाणा को वंचित रखना किस दृष्टि से न्यायोचित कहलाएगा—हमारी समझ में नहीं आता। जरा कल्पना करिये कि हरियाणा के अन्दर यदि दो पंजाबी-भाषी गाँव होते और उन्हें एक हिन्दी-भाषी गाँव अलग कर रहा होता तो अकाली नेता सटाव की कैसी परवाह करते?

फिर आया वेंकटरमैया आयोग। वेंकटरमैया आयोग ने तो अबोहर-फाजिल्का को विचार-कोटि से ही निकाल दिया, क्योंकि मैथ्यू आयोग उसे रद्द कर चुका था। उसके सामने फिर वही समस्या थी कि कौन-से गाँव दिए जाएँ। वेंकटरमैया आयोग की खूबी देखिये। चौधरी भजनलाल ने पहले इस आयोग का बहिष्कार करने का निश्चय किया और हरियाणा की ओर से कोई दावा ही पेश नहीं किया। जब केन्द्र का दबाव पड़ा, तो ४८३ गाँवों की लगभग ४५ लाख एकड़ भूमि का दावा पेश किया। इससे पहले आयोग अपना मन बना चुका था। उसने इस दावे पर विचार करने से ही इन्कार कर दिया क्योंकि दावा पेश करने का समय निकल चुका था। आयोग

की अवधि दस दिन और बढ़ाने पर भी आयोग ने उस दावे पर विचार नहीं किया तो नहीं ही किया और अपनी ओर से चण्डीगढ़ के बदले और अबोहर-फाजिल्का के भी बदले (जिसकी भूमि ४५ लाख एकड़ी थी) सत्तर हजार एकड़ी भूमि देने की सिफारिश कर दी। मजेदार बात यह कि यह सत्तर हजार एकड़ी भूमि कौन-सी होगी, इसका फैसला वेंकटरमैया आयोग ने नहीं किया, उसके लिए नया आयोग बिठाने की सम्मति दो और साथ ही अपनी ओर से क्षमा माँग ली कि अगले आयोग का काम उन्हें न सौंपा जाए।

मैथू आयोग मिथ्या आयोग सिद्ध हुआ, वेंकटरमैया आयोग 'कटमरैया आयोग' बनकर रह गया—आपस में ही कटो मरो, हमारी लाला से। अब जरा कल्पना करिए—कहाँ ४५ लाख एकड़ी, कहाँ सत्तर हजार एकड़ी। अन्याय की भी तो कुछ हद हो ! उससे भी बढ़ कर चमत्कार यह देखिए कि जिस हरियाणा को शिकायत होनी चाहिए थी, उसने फिर राष्ट्रहित में यह रिपोर्ट स्वीकार कर ली और पंजाब फिर आनाकानी कर रहा है। हरियाणा के चाहे कितने ही 'लाल' हों—चाहे भजनलाल, चाहे देवीलाल और चाहे बंसी लाल, हे यौद्धेयों की भूमि ! इन लालों में से कोई तेरे हित की रक्षा करने वाला नहीं है। तुझे अपनी रक्षा अपने आप ही करनी पड़ेगी। तुझे ही राष्ट्रहित के लिए कुरानी देनी है, और उन अकाली राजनेताओं को भी सीधे रास्ते पर लाना है जो कोई युक्ति और तर्क सुनने को तैयार नहीं हैं।

जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है, तो उत्तर भारत में शवयात्रा के समय 'रामनाम सत्य है' की आवाज दिशाओं में गूँजती है। वैसे ही बंगाल में 'हरि बोल' के बोल गूँजते हैं। यदि हरियाणा में बराबर अपमान सहकर भी कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, तो हे हरियाणा ! 'अब हरि बोल !'

## हिन्दुओं के पलायन की प्रतिक्रिया

पंजाब से हिन्दुओं के पलायन की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए सहयोगी 'प्रकर' के सम्पादकीय में लिखा है—

"स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से विघटनवादी आन्दोलन निरन्तर सिर उठाते रहे हैं और ये आन्दोलन उग्र से उग्रतर होते गए हैं। इसका प्रभाव देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक —कहना चाहिए कि समग्र-जीवन पर पड़ा है। राजनीतिक स्तर पर न केवल साम्प्रदायिक दल शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली होते गए हैं और उन पर मुल्लाओं-मौलवियों, सन्तों-जत्थेदारों, ग्रन्थियों-रागियों, मिशनरियों-पादरियों, पुरोहितों-पुजारियों जैसे कटूरपन्थियों की पकड़ मजबूत होती गयी और इनके लिए विदेशी धन देश में प्रवाहित होने लगा, अपितु राम-नाम की भाँति धर्म-निरपेक्षता की माला जपने वाले राजनीतिज्ञ भी अधिकाधिक इन पर निर्भर होने लगे। इस प्रकार के सभी तत्त्व सत्ता के निकट जमा होते गये और सत्ता से ही शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त कर आश्रयदाता को ही शक्तिहीन बनाने में जुट गये। इस शक्ति-संचय के माध्यम से ये वर्ग अर्थ-संचय भी निर्द्वन्द्व भाव से करने लगे। सत्ता के कोष इन लोगों के लिए निरन्तर खुलते ही चले गये। राजनीति और अर्थ के इस सम्मिलित अभियान ने सामाजिक दरारों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। गत उन्नालीस वर्षों से ये दरारें और चौड़ी होती गयी हैं। समाज और देश के नये-नये क्षेत्रों में ये दरारें उत्पन्न की गयीं। सम्मिश्रण संस्कृति के नारे की दिशा भिन्न-संस्कृति, भिन्न धर्म-पंथ-सम्प्रदाय, प्रत्येक धर्म-पन्थ-सम्प्रदाय की अपनी-अपनी नाकाबन्दी, प्रत्येक धर्म-पन्थ की पृथक् जीवन-पद्धति के विकास की ओर रही।

इकीसवीं शती में कूदने के आह्वान को और समता के अधिकार सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान को निरस्त कर पृथक् धर्म, पृथक् जीवन, पृथक् विधि, पृथक् समाज, पृथक् संस्कृति, पृथक् भाषा और पृथक् क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया गया है। इस प्रकार देश को धार्मिक आधार पर विखण्डन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया गया है। विघटन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं प्रगति की दिशा के लिए मात्र राज्य-सत्ता ही उत्तरदायी नहीं है। जाति-धर्म के आधार पर बँटे मतदाता, भावावेश से ग्रस्त विद्वत्कल्प, मैकाले पद्धति से शिक्षित-प्रवर्द्धित पण्डितमन्य बुद्धिजीवी, पश्चिम-प्लवी विद्वान् सभी ने और इस देश की राज्यसत्ता ने स्वतन्त्र रूप से जीवित रहने का एकमात्र अधिकार इण्डियन इंग्लिश (इंडिश) के समाचार पत्रों को प्रदान किया हुआ है और ये पत्र उँगली पकड़कर देश को इसी दिशा में कदम बढ़ाते रहने के निर्देशन के लिए प्रतिबद्ध हैं।

यह स्थिति किसी सामयिक एवं आकस्मिक नीति-निर्णय का परिणाम नहीं है। इसके पीछे दीर्घकालीन विभिन्न सैनिक राज-नीतिक, सामाजिक घात-प्रतिघात, तत्कालीन दबाव, समाज का नेतृत्व करने वाले वर्गों की अपनी शिक्षा-दीक्षा, बौद्धिक पृष्ठभूमि, वर्गगत हितों पर उनकी दृष्टि ने एक विशिष्ट प्रकार की मानसिकता का निर्माण किया जो समग्र देश और समाज के भविष्य के बहुत अनुरूप नहीं थी, बल्कि तात्कालिकता से इतनी अधिक अभिभूत थी कि भविष्य की चिन्ता करने में असमर्थ थी और इसी कारण तात्कालिक निर्णयों की परिणति जिन संकटों और विधवाओं में हुई, उन्हें भोगने के लिए इनकी उत्तरवर्ती पीढ़ियाँ बाध्य हैं। अभी तक अतीत के इन घात-प्रतिघातों का विश्लेषण और उनके आधुनिक जीवन पर प्रभाव को निर्धारित करने से हम कतराते हैं। 'अतीत-जीवी' कहलाने के अपमान से बचने के लिए।

यहाँ सम्पूर्ण अतीत की प्रक्रिया का विवेचन सम्भव नहीं है। पर

निकट अतीत में हमारे ही जीवनकाल अथवा उससे निकटस्थ रूप से जुड़े काल की उन कुछ घटनाओं और उनसे जुड़े निर्णयों का एकाध उदाहरण हमारी रूप-रेखा को स्पष्ट करने में सहायक होगा। कांग्रेस द्वारा १९१६ में पृथक् मुस्लिम प्रतिनिधित्व की स्वीकृति देश के विखण्डन की आत्मघाती स्वीकृति थी। 'देश का विभटन हमारी लाश पर होगा' की घोषणा की परिणति दो रूपों में हुई। यह घोषणा करने वाले सत्तासीन हुए, देश पर अपनी मानसिकता लाइन में समर्थ हुए, विशाल जनसंख्या लाशों में परिणत हो गयी, उसने असहाय होकर मृत्यु के विकल्प के रूप में धर्म-परिवर्तन स्वीकार कर लिया, अथवा लज्जाहीनता के साथ नागरिकता-विहीन जीवन-यापन स्वीकार कर लिया। ठीक यही निर्मम स्थिति सत्ताधीशों ने पुनः ला उपस्थित की है। दिल्ली की सीमा तक फैले खण्डित पंजाब का भाषा के नाम पर पुनः विभाजन किया गया, विभाजन द्वारा निर्मित राज्य को 'पंजाबी सूबा' मानकर विशेष रूप से टक्सालों में प्रशिक्षित और गुरुद्वारों पर आश्रित सन्तों-जत्थेदारों ग्रन्थियों-रागियों ने इसे 'खालसा राज' सूबा बनाना शुरू कर दिया। यही प्रवृत्ति अब स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न 'खालिस्तान' की माँग बन गयी है। इस प्रवृत्ति के सम्बद्धन का श्रेय भी सत्ता दल को प्राप्त है।

'द५ के लोकसभा के चुनावों के समय आनन्दपुर साहब का 'राज करेगा खालसा' प्रस्ताव देशद्रोहपूर्ण था। सत्ताधीश नेताओं ने, प्रत्येक विपक्षी दल पर यह आरोप लगाया कि वे इस देशद्रोहपूर्ण प्रस्ताव का समर्थन करते रहे हैं। पर कुछ ही दिनों में अपने को पृथक् राष्ट्र घोषित करने वाले, इन्दिरा गांधी की हत्या का समर्थन करने वाले सन्तों-जत्थेदारों से समझौता करके चुनाव की विशेष युक्तियों द्वारा अकाली दल के राज की स्थापना कर दी गई। यह राज जिस रूप में उभर कर सामने आया, उसके राजनीतिक-सामाजिक फलितार्थ एकदम सामने आ गये। एक, इस राज की स्थापना

केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल ने की और इसके निमणि के लिए अकाली दल को इतनी अधिक रियायतें और सुविधाएँ प्रदान की गईं कि भगोड़ों, तस्करों, आतंकवादियों, उग्रवादियों और हत्यारों को सार्वजनिक घोषणा के साथ प्रशासन का अंग बना लिया गया। दो, परिणाम यह हुआ कि जो प्रशासन पहले ही साम्प्रदायिक रूप ले चुका था, उसमें समाज-विरोधी और देश-विरोधी तत्त्वों के बढ़ जाने से प्रशासन और आतंकवाद-उग्रवाद में घनिष्ठ आन्तरिक सहयोग स्थापित हो गया और प्रशासन तथा पुलिस आतंकवाद के सक्रिय भागीदार बन गये। तीन, इस निकटता और सहयोग के कारण अल्प-संख्यक लोग जो कुछ समय पूर्व तक बहुसंख्यक थे और जिन्हें केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल ने अल्पसंख्यकों में परिवर्तित कर दिया था, प्रत्येक नागरिक और संवैधानिक सुविधा एवं अधिकार से वंचित कर दिये गये। आत्मरक्षा के लिए इन्हें शस्त्रास्त्र देने से इन्कार किया जाने लगा; इनके धार्मिक स्थलों पर अधिकार कर गुरुद्वारों में परिवर्तित किया जाने लगा, इनकी शिक्षण-संस्थाओं को बलात् अधिकार में लेकर सिख-शिक्षण संस्थाओं का रूप दिया जाने लगा, अल्पसंख्यकों की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा को धूलिसात् कर उन्हें अपनी कन्याओं का विवाह-उग्रवादियों और आतंकवादियों द्वारा निर्धारित सिखों से करने के आदेश दिये जाने लगे। विरोध करने वालों को प्रशासनिक स्तर पर सताया जाने लगा, विभिन्न आरोपों में अथवा सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत जेल भेजा जाने लगा।

बलात् अल्पसंख्यक बना दिये गये लोग पूर्णरूप से इतने घिर गये कि आतंकवादियों के आक्रमणों का शिकार होने पर वहाँ की पुलिस या तो मूक दर्शक वनी रहती है या पीठ दिखा देती है। यदि आक्रांत अल्पसंख्यक विरोध करता है, आत्मरक्षा का प्रयत्न करता है तो आतंकवादियों को पीठ दिखाने वाली पुलिस की गोलियों का शिकार होता है। आतंकवाद, लूटपाट, आगजनी, हत्या का शिकार होने पर

केवल सिखों की ही क्षतिपूर्ति की जाती है, अत्यसंख्यकों की नहीं। असहाय, दयनीय स्थिति का यह 'हिन्दू' नामक 'मानव' जब भागकर शरण लेने के लिए देश के अन्य भागों की ओर जाता है और अपने ही रक्त के देशवासियों से शरण माँगता है तो केन्द्रीय गृहमन्त्री बूटासिंह 'हिन्दू प्रतिक्रिया' (हिन्दू बैकलैश) के सम्भावित आतंक के कारण प्रेस वक्तव्य देना शुरू कर देते हैं और इण्डश समाचार कण्ठ-से-कण्ठ मिलाकर 'हिन्दू प्रतिक्रिया' का समवेत गान प्रारम्भ कर देते हैं।

'हिन्दू प्रतिक्रिया' पद का प्रयोग इन दिनों बहुत खुलकर और उँगली उठाते हुए किया जा रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हिन्दुओं में प्रतिक्रिया की सामर्थ्य है भी। श्रीमती गांधी की हत्या का प्रकरण लें। चौबीस घण्टे से भी अधिक समय तक इस जघन्य हत्या के विरोध में हिन्दू की प्रतिक्रिया थी मात्र शोक-पीड़ा-राष्ट्रीय अपमान। यह उन चौबीस घण्टों के बाद की स्थिति है जब विभिन्न क्षेत्रों में ट्रूकों में भर-भरकर सत्ता दल के नेतृत्व में दल-के-दल आकर लूटमार, आगजनी और हत्याएँ करने लगे। इस प्रसंग में यह अवश्य उल्लेखनीय है कि सत्ता दल के इस शौर्य से प्रभावित होकर हिन्दुओं ने '८५ के चुनावों में उसके पक्ष में मुक्तहस्त से मतदान किया। तात्कालिक स्थिति यह थी कि जिस विशाल वर्ग पर हिन्दू-प्रतिक्रिया का आरोप किया जाता है उन्हीं लोगों ने विभिन्न स्थानों और क्षेत्रों में अपने आपको संकट में डालकर इस विनाश-लीला को रोकने का प्रयत्न किया। हम जो अनुभव करते हैं वह यह है कि हिन्दू अन्तर्मन और मानसिकता इतनी संवेदन-शून्य और जड़ हो चुकी है कि विनाश लीला उपस्थित हो जाने पर भी विना किसी प्रतिक्रिया के हिन्दू बलि का बकरा बन जाता है।

इस संवेदन-शून्यता को ठीक से हृदयंगम करने के लिए उन स्थितियों पर एक दृष्टिपात पर्याप्त है जिनमें से 'हिन्दू' निकलता है। सर्वस्व हरण के बाद पाकिस्तान और बांग्लादेश (पहले पूर्वी बंगाल)

से हिन्दू निष्कासित हुए, पर संगठित रूप से उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। केवल इस देश में आकर शरण ली, कष्ट-पीड़ा-अपमान-शोक-मृत्यु सभी सहकर असहाय दीन-हीन जीवन यापन का मार्ग अपना लिया। परन्तु जब इसराइल से निष्कासित फिलिस्तीनी दल-बद्ध रूप से इसराइल का सशक्त विरोध करते हैं तो हिन्दू उनकी जय-जयकार करता है। जब 'हिन्दू' को धर्म-निरपेक्ष सरकार इन सशस्त्र दलबद्ध लोगों को मान्यता प्रदान करती है तो वह कृतज्ञता-ज्ञापन करता है। अफ्रीकी देशों की अकाल-पीड़ित सूखाग्रस्त जनता की पीड़ा से वह इतना विचलित हो उठता है कि उसकी सहायता के लिए आशौजित 'काल प्रतियोगिता' में करोड़ों की संख्या में भाग लेता है, परन्तु देश के विशाल खण्डों में सूखों से छटपटाते मनुष्यों की कराह से तनिक भी विचलित नहीं होता। इस संवेदन-शून्यता की सीमा यहाँ तक पहुँच गयी है कि अपने ही देश के विभिन्न भागों में होने वाले हत्याकाण्डों की क्रूरता-निर्ममता, हिन्दू में किसी प्रतिक्रिया को जन्म नहीं देती। पर जब हिन्दुओं की सरकार, उसके देश की सत्ता, अफ्रीकी देशों के जन-साधारण की पीड़ाओं को दुन्दुभिवादन के साथ, करोड़ों रुपये अपनी यात्राओं में व्यय करके पटहनिनाद की संगति में दूरदर्शन-आकाशवाणी—इण्डिश समाचार-पत्रों के माध्यम से प्रस्तुत करती है तब उसकी सम्पूर्ण मानवीय संवेदना विस्फोट के साथ जागृत हो उठती है, आत्मग्लानि और आत्मपीड़ा भूलकर।

सामूहिक रूप से हिन्दू को पंजाब समस्या, गोरखालैण्ड समस्या, झारखण्ड-समस्या, मुस्लिम-ईसाई-समस्या, भाषा आदि कुछ भी प्रभावित करती प्रतीत नहीं होती। कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, इसलिए स्वीकार करना होगा कि वह संवेदनशून्य और जड़ है। यदि हिन्दू में प्रतिक्रिया की क्षमता का कुछ भी अंश होता तो विखण्डन की दिशा की ओर गति रुक गयी होती। वस्तुतः गत एक हजार वर्ष की गुलामी के कारण उसकी संवेदना क्षीणतर होती गयी है। इस

राजनीतिक जागरूकता से सत्ता दल के हिन्दू विशेष रूप से मुक्त हैं। मुस्लिम विद्येयक पर संसद में सत्ता दल के हिन्दुओं का जो रूप उभर कर सामने आया, वह था संविधान के प्रावधानों, प्रगतिशील मुसलमानों और मुस्लिम महिलाओं की क्रूर नियति उनमें से किसी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता नहीं। सत्ता दल के सदस्यों की अपने देश की भाषाओं के प्रति भी प्रतिबद्धता नहीं है। वे अपनी भाषाओं के प्रयोग के लिए आग्रहशील नहीं हैं, इण्डियन इंग्लिश लादे जाने के विरोध में उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं है। यह 'जीवित-शब्द' मनोवैज्ञानिक अध्ययन की वस्तु है।

जिस देश का जनसाधारण अनाचार-अत्याचार पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता, अनायास प्रतिक्रिया व्यक्त हो जाने पर उंगली उठने पर मुँह छिपाने के लिए प्रयत्नशील होता है; बल्कि उस समवेत गान में सम्मिलित हो जाता है जो अनाचार का विरोध करने वालों के विरुद्ध प्रारम्भ किया जाता है; और जिस देश का जन साधारण अपने मूल अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं है, स्वयं पीड़ा-अपमान सहता हुआ, इन पीड़ाओं और अपमानों को जन्म देने वाले आनुवंशिक शासकों की इसलिए जय-जयकार करता है कि वे धरती के किसी सुदूर कोने में होने वाले अनाचारों की ओर उंगली उठाकर उनकी आलोचना करते हैं, तो उन्हें एक दिन अपना स्थान, अपनी भूमि, अपना देश, अपनी जीवन-परम्परा छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए यदि वे पंजाब के उग्रवादियों और प्रशासन के सम्मिलित आतंक को अपनी प्रतिक्रिया द्वारा रोक पाने में असमर्थ हैं तो निस्सन्देह इन जीवित-शब्दों को देश के अन्य भागों में वैसी ही शरण मिलनी चाहिये जैसी शरण पाकिस्तान, पूर्वी बंगाल और श्रीलंका के लोगों को प्रदान की जाती है। तब पंजाब से सुरक्षा-हीन अल्प-संख्यकों के बलात् निष्कासन से बिना प्रयास खालिस्तान की स्थापना हो जाएगी—यही सिखों और पंजाब के आतंकवादियों की

चरम कामना है।

अल्पसंख्यकों का पंजाब से निष्कासन उस मानसिकता की अभिव्यक्ति है जो सिखपन्थ को मात्र सन्तों, जत्थेदारों का प्रभुता-क्षेत्र मानती है। अकाली दल की स्थापना के साथ ही सिखों को अपने ही शेष समाज—एक ही रक्त से जुड़े समाज—से पृथक् करने की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी—पृथक्-ता की भावना इस सीमा तक पहुँच गयी है कि आज सिख पन्थ का गुरुद्वारों से नियन्त्रण करने वाले सन्त और जत्थेदार सिखेतर वर्ग की हत्याओं के प्रश्न पर मौन रहते हैं, हत्यारों को, अन्य प्रकार के अपराधियों को गुरुद्वारों में शरण देते हैं, गुरुद्वारों में शस्त्रास्त्रों के संग्रह के औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगाने को तैयार नहीं होते, अपराधियों एवं शस्त्रास्त्रों को गुरुद्वारों से हटाने का सक्रिय विरोध करते हैं, हत्यारों को हटाने में सहायता देने वाले सिखों को दण्डित करते हैं। इसी से संकेत मिलता है कि इन लोगों की और आतंकवादियों की मानसिकता समान तरंग-दैर्घ्य पर कार्य कर रही है। जिस आधार पर अकाली दल की स्थापना हुई थी, धर्म और राजनीति को सम्मिलित करने का १९२४ का गुरुद्वारा अधिनियम लागू हुआ था, वह आधार वर्षों के श्रम के बाद कम-से-कम उन लोगों को तो मूर्त होता दिखाई देता ही है।

अब शेष देश, देश के जागरूक और सजीव निवासियों को यह उत्तर देना है कि वे 'जीवित-शब' नहीं रहे, शतियों की जड़ता से वे मुक्ति पा रहे हैं और इतनी चेतनावस्था प्राप्त कर चुके हैं कि प्रत्येक प्रहार उनके भीतर प्रतिक्रिया की भावना जागृत करता है। देश के किसी भाग के खण्डित होने की चेष्टामात्र शिव के ताण्डव नृत्य को निमन्त्रण देना है। विखण्डन की दिशा में प्रयाण को और भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयासों को रोकने का कोई सम्भव मार्ग अपनाने से ही राष्ट्र सामान्य स्थिति की ओर आ सकता है।

## हजूरे-आला बरनाला साहब !

हजूरे-आला बरनाला साहब ! आज बहुत दिनों बाद रू-ब-रू मुखातिब होकर बात करने को जी चाह रहा है। जिस तरह आपकी बुजुर्गी का प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी आदर करते हैं, हम भी उससे कम आदर नहीं करते। साथ ही आपके नेकनीयत होने का भी प्रमाण-पत्र हम देने को तैयार हैं। पिछले दिनों आपने आतंकवादियों के विरुद्ध जंग छोड़ने की बात कही तो उससे भी लगा कि आप सचमुच पंजाब की समस्या को सुलझाना चाहते हैं। परन्तु इसका क्या करें कि आपके इस ऐलान पर न तो पंजाब के हिन्दुओं को विश्वास हो रहा है और न ही अन्य देशवासियों को ।

इस समय पंजाब की समस्या केवल किसी एक राज्य की समस्या नहीं है बल्कि वह सारे राष्ट्र की समस्या बन गई है। लोंगोवाल और प्रधानमन्त्री का पंजाब समझौता इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में हुआ भी था। परन्तु आपने आज तक इस समस्या के राष्ट्रीय पहलू की सर्वथा उपेक्षा की है और उसे केवल पंजाब की नहीं, केवल सिखों की और सिखों की नहीं, केवल अकालियों की, समस्या समझकर हल करने का प्रयत्न किया है। उसका यह परिणाम है कि पंजाब से हिन्दुओं का पलायन जारी है और जितने भी विस्थापित वहाँ से आये हैं वे सब एक स्वर से यह कह रहे हैं कि हमें न पंजाब पुलिस पर विश्वास है, न बरनाला सरकार पर। आखिर यह स्थिति क्यों आई ?

हिंसा के भीषण ताण्डव के पश्चात् जब पंजाब ने समझदारी का रास्ता अपनाया और जनतन्त्र के रास्ते पर चलने के लिए 'बैलेट' को छोड़कर 'बैलेट' को महत्त्व दिया। तब आपको और आपके साथियों

को जिताने के लिए केवल अकालियों ने वोट नहीं दिए थे, बल्कि अधिकांश हिन्दुओं ने भी पंजाब में शान्ति स्थापना के उद्देश्य से आपके पक्ष में ही मतदान किया। अब यह बात भी लुकी-छिपी नहीं रह गई है कि स्वयं कांग्रेस ने पंजाब में अकाली सरकार बनाने के लिए ही वह चुनाव लड़ा था और राजीव गांधी ने कांग्रेस के हार जाने पर स्वयं यह घोषणा की थी कि पंजाब में कांग्रेस भले ही हार गई हो, परन्तु लोकतन्त्र की विजय हुई है। उस लोकतन्त्र की रक्षा की सारी जिम्मेवारी आपकी ही थी क्योंकि आप मुख्यमन्त्री बने थे।

परन्तु सत्ता संभालने के बाद किसी भी दिन आपने ऐसा रवैया नहीं अपनाया जिससे लगता कि आपको लोकतन्त्र की या राष्ट्रीय अखण्डता की चिन्ता है। आपने शुरू से ही विद्रोहियों को पटाने के लिए उन्हें तरह-तरह की सुविधाएँ देना आरम्भ किया। आपने पंजाब के ४८% (विहार और उत्तर प्रदेश के लाखों मजदूरों को भी शामिल किया जाय तो पंजाब में हिन्दुओं की आबादी ५५% बढ़ेगी) हिन्दुओं की कभी परवाह नहीं की। आपने सारा ध्यान इस बात पर दिया कि भगोड़े सैनिकों को पेन्शन दी जाय, जमीनें दी जायें और उनके देश-द्रोह को पुरस्कृत किया जाय। दूसरा जो सबसे बड़ा काम आपने किया वह यह था कि 'ब्लू स्टार' आपरेशन के बाद सिख-छात्र संघ के जिन आतंकवादियों को गिरपतार किया गया था उनको आपने छोड़ दिया और उनको रोजगार देने के नाम पर पुलिस में और अन्य सरकारी महकमों में भर्ती किया। इन आतंकवादियों की अविवेकपूर्ण रिहाई पर जब प्रधानमन्त्री ने आपत्ति की तब आपने बैंस अस्थोग का बहाना बनाकर कहा कि राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थापना राज्य सरकार का काम है, उसकी चिन्ता केन्द्र को करने की जरूरत नहीं।

पहले तो लगा कि आपकी वाणी में आत्मविश्वास बोल रहा है। शर पीछे यह स्पष्ट हो गया कि वह आत्मविश्वास उतना नहीं था,

जितना देश की जनता को और केन्द्रीय सरकार को प्रवंचित करने की एक चाल थी। जब मैथू आयोग की रिपोर्ट आई तो आपने बड़े गर्व के साथ कहा कि हमने चण्डीगढ़ तो ले ही लिया, बदले में अबोहर-फाजिल्का भी नहीं दिया और अगला आयोग आने पर हम हरियाणा से ६०० गाँव और लेंगे। इस घोषणा से स्पष्ट हो गया कि आपके मन में हरियाणा के निवासियों के प्रति, जो उसी प्रकार इस देश के निवासी हैं जैसे कि पंजाब के अकाली, आपके मन में कोई न्याय की भावना नहीं थी। जहाँ तक लिंक नहर बनाने का सवाल था, उसमें आपने एक इन्च भी योगदान नहीं दिया और आपने यह बवतव्य भी दे दिया कि पंजाब के अपने खेतों के लिए ही पानी नहीं है तो हरियाणा और राजस्थान को पानी कहाँ से देंगे। जब वेंकटरमैया आयोग का फैसला आया तो फिर आपने उसी प्रकार अपने मन की प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता का परिचय दिया। आप पंजाब के लिए चण्डीगढ़ तो लेने को तैयार थे परन्तु उसके बदले में हरियाणा को ७० हजार एकड़ भूमि देने को तैयार नहीं थे। आप पंजाब समझौते के उस हिस्से को तो पूरा करने के लिए बार-बार जोर देते रहे जिसका सम्बन्ध पंजाब के साथ था, पर समझौते के शेष अंश को पूरा करने के लिए आपने कभी कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। जब लाचार होकर केन्द्र ने देसाई आयोग की स्थापना की तो आपने देसाई आयोग को ही अस्वीकार कर दिया।

इस प्रकार आप मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू की साम्प्रदायिक नीति पर चलते रहे जिससे आतंकवादियों को लगातार बल मिलता गया। आतंकवादियों ने समझ लिया कि आज के पंजाब में आतंकवादी होना सबसे अधिक लाभदायक है। आपके मन्त्रिमण्डल के कई वरिष्ठ सदस्यों के सीधे सम्बन्ध उन आतंकवादियों से थे और कितने ही अकाली नेता सीधे तस्करों से जुड़े हुए हैं। आप यह सब न जानते हों, यह नहीं हो सकता। सुखिन्दर सिंह जैसे अपराधकर्मी

व्यक्ति को आपने मन्त्र-मण्डल में शामिल किया था और वह मौका पाते ही आपको लात मारकर आपके विरोधियों से जा मिला । आपके मन्त्रमण्डल में अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है । अकाली राजनीति सदा जिस तरह हरेक समस्या को केवल साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सोचने की आदी रही है, वही रवैया आपने भी अपनाया । इसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान पंजाब में आतंकवाद एक लाभदायक व्यापार बन गया । एक ओर निरन्तर आतंकवादियों को प्रश्न देने की नीति और दूसरी ओर आतंकवादियों के विरुद्ध जंग छेड़ने की बात । दोनों चीजें साथ-साथ कैसे चलेंगी ? इसीलिए तो लोगों को आप पर विश्वास नहीं हो रहा है ।

आज तक आपकी सारी चिन्ता केवल अपनी पार्टी और सिखों के उचित-अनुचित हितों को साधने पर ही केन्द्रित रही । पिछले दिनों आपने स्वर्ण मन्दिर में सेना भेजने के विरोध में उठे बावेले को शान्त करने के लिए गुरुद्वारों में जाकर जूते साफ करके प्रायिक्चित्त किया । इस तरह आपने भले ही अपने आपको एक धर्मपरायण सिख सिद्ध किया हो, परन्तु यह कर्तव्यपरायण मुख्यमन्त्री की स्पष्ट अवहेलना थी । कहते हैं कि साँप की दो जुबानें होती हैं । इसीलिए संस्कृत में उसको 'द्विजिहू' कहा जाता है । आपकी भी सदा दो जुबानें रहीं—एक मुख्यमन्त्री राजनीतिक बरनाला की और एक सन्तों को प्रमुखता देने वाले अकाली सिख बरनाला की । आप यह भूल गये कि आपने मुख्यमन्त्री का पद ग्रहण करते हुए जिस संविधान की शपथ ली थी वह संविधान सम्प्रदाय-निरपेक्षता का हामी है । परन्तु आपने हमेशा अपने सम्प्रदाय को अन्य सब चीजों से ऊपर माना । उसी का यह परिणाम हुआ कि अलगाववादी और आतंकवादी तत्त्वों को समाप्त करने के लिए आप कभी पूरी तरह से सक्रिय नहीं हो सके ।

स्वर्ण मन्दिर से देशद्रोहियों को निकालने पर तो आप पश्चात्ताप करते हैं ताकि आपके विद्रोही अकाली आपकी सरकार न गिरा सकें

और सिख आपसे नाराज न रहें। लेकिन दिन-प्रतिदिन पंजाब में योजनाबद्ध रूप से जो हिन्दुओं की हत्या हो रही है और सीमावर्ती इलाकों को हिन्दू-विहीन करके खालिस्तान बनाने की योजना पर अमल किया जा रहा है, उस पर आपको कोई पश्चात्ताप नहीं है। एक सिख के नाते आपका पश्चात्ताप समझ में आता है, लेकिन क्या मुख्यमन्त्री के नाते देश के प्रति आपकी कोई जिम्मेवारी नहीं है? या पंजाब के हिन्दू आपकी प्रजा नहीं हैं? हिन्दुओं के मारे जाने या उन्हें खदेड़े जाने पर आपके मन में पश्चात्ताप की भावना क्यों नहीं उठती?

अभी राज्यसभा के लिए चुनाव होकर चुका है। उसमें आपके विरोधी गुट ने सिमरनजीतसिंह मान को खड़ा करके राष्ट्र को चुनौती देने की तैयारी की थी। वह विफल हो गई है। मान अभी तक जेल में हैं और उन पर मुकदमा चल रहा है। पटियाला के पूर्व युवराज जमरेन्द्र सिंह के वे साढ़े हैं। बादल और तोहड़ा मान को संसद में पहुँचाकर राष्ट्रीयता की मिट्टी पलीत करना चाहते थे। अगर वे जीत जाते तो पंजाब में आतंकवादियों को और खुलकर खेलने का मौका मिलता। परन्तु अब उनकी पराजय और बंगलादेश के विजेता जग-जीतसिंह अरोड़ा के जीत जाने पर आपके हाथ मजबूत हुए हैं। अब आप अपनी अकर्मण्यता और सम्प्रदाय-परायणता को छोड़कर आतंक-वादियों से कुशलता से निपट सकें, इसका एक अच्छा अवसर आपको मिल गया है। यदि अब भी आप पंजाब में बेगुनाहों की हत्या और हिन्दुओं का पलायन नहीं रोक सके तो आपको परे हटाकर केन्द्र को सीधी जिम्मेवारी संभालनी होगी। इसके जो भी नतीजे होंगे, उसके लिए देश को तैयार रहना होगा। परन्तु वह स्थिति आने से पहले अच्छा हो कि आप स्वयं ही त्याग-पत्र दे दें और केन्द्र के लिए सैनिक कार्रवाई का मार्ग प्रशस्त कर दें। हजूरे-आला बरनाला साहब ! हमारी आपको यही नेक सलाह है।

[६ जुलाई, १९८६]

## परीक्षा की घड़ी और कुछ सुझाव

आर्यसमाज में और अन्य संस्थाओं में—फिर चाहे वे धार्मिक संस्थाएँ हों या राजनैतिक संस्थाएँ—एक खास अन्तर है। उस अन्तर को बिना पहचाने आर्यसमाज के सही स्वरूप को समझना कठिन है। आर्यसमाज से भिन्न जितनी धार्मिक संस्थाएँ हैं उन सबका रुक्षान अपने सम्प्रदाय-विशेष की तरफ ही रहता है, इसीलिए वे हमेशा अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए विशेष रियायतों की माँग करती रहती हैं। अपने सम्प्रदाय का व्यक्ति चाहे कैसा भी हो, अपने से भिन्न सम्प्रदाय के व्यक्ति से हर हालत में बेहतर है, यह मनोवृत्ति ही साम्प्रदायिकता की जननी है। पाठक भूले नहीं होंगे जब कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से मौलाना मुहम्मद अली ने कहा था—“हकीर-से-हकीर मुसलमान भी मेरे लिए महात्मा गांधी से बढ़कर है, क्योंकि वह मुसलमान है”—तब वह इसी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का विस्फोट था।

जिस प्रकार ये तथाकथित धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक साम्प्रदायिकता की शिकार हैं उसी प्रकार देश की विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ भी राजनैतिक साम्प्रदायिकता की शिकार हैं। क्योंकि वे अपने राजनैतिक दल के सब लोगों को दूध से धुला मानती हैं और अन्य राजनैतिक दलों के अनुयायियों को पाप-पंक में लिप्त कीट-मात्र। तभी तो अन्य राजनैतिक दलों के लोग जब उनके अपने राजनैतिक दल में शामिल हो जाते हैं तब उनके सब पाप माफ हो जाते हैं। जिस तरह धार्मिक साम्प्रदायिकता समाज को पतन की ओर ले जाती है, उसी प्रकार राजनैतिक साम्प्रदायिकता भी। दोनों प्रकार की

साम्प्रदायिकता हरेक घटना को अपने रंगीन चश्मे से देखती है।

आर्यसमाज इन धार्मिक या राजनैतिक संस्थाओं से इस बात में भिन्न है कि उसने आज तक कभी आर्यसमाज के नाम पर किसी रियायत या विशेषाधिकार की माँग नहीं की। जहाँ अन्य राजनैतिक दल प्रत्येक घटना का अपने बोटों के लिए उपयोग करना चाहते हैं, वहाँ आर्यसमाज क्योंकि अपने लिए अलग से कुछ नहीं चाहता, इसलिए सदा राष्ट्रहित को ही प्रमुखता देता है। इस नाते से हम कह सकते हैं कि सही अर्थों में एकमात्र आर्यसमाज ही असाम्प्रदायिक संस्था है। हमारे संविधान ने सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार किया है (जिसके लिए गलती से 'धर्म-निरपेक्षता' शब्द चल पड़ा है), परन्तु उसके निर्माणकाल से ही समस्त राजनैतिक पार्टियाँ इस सिद्धान्त का उल्लंघन करती रही हैं। कांग्रेस ने सदा मुस्लिम-बहुल इलाकों से मुस्लिम उम्मीदवार को, हिन्दू-बहुल इलाकों से हिन्दू को और हरिजन-बहुल इलाकों से हरिजन उम्मीदवार को ही खड़ा किया। चाहिए तो यह था कि हिन्दू-बहुल इलाके से मुस्लिम उम्मीदवार जीतकर आते और मुस्लिम-बहुल इलाके से हिन्दू उम्मीदवार जीतकर आते, तब असाम्प्रदायिक लोकतन्त्र की विजय होती।

संविधान का स्पष्ट उल्लंघन करने वाली दूसरी बड़ी गलती यह हो गई कि नारा सम्प्रदाय-निरपेक्षता का लगता रहा और मुस्लिम लीग तथा अकाली दल जैसी साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता मिलती रही। इन दोनों कट्टर साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता देकर चुनाव लड़ने के लिए मैदान में खुला छोड़ देना कौन से सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन है, यह हमारी समझ में नहीं आता। अगर भारत सरकार अब भी यह निश्चय कर लेती है कि किसी भी सम्प्रदाय के नाम पर बनी पार्टी को चुनाव लड़ने की अनुमति नहीं दी जायेगी, तो देश को साम्प्र-

दायिकता के गहरे गह्वर से निकाल सकती है।

इस समय देश के सामने सबसे प्रमुख समस्या पंजाब से हिन्दुओं के पलायन की है। हम देखते हैं कि समस्त धार्मिक और राजनीतिक संगठन इस समस्या के निवारण के लिए सर्वात्मना तत्पर होने के बजाय अपनी पार्टी का बोट-बैंक तैयार करने या अपने संगठन के लिए वाहवाही लूटने में दत्तचित्त हैं। आर्यसमाज ने पंजाब की समस्या को कभी प्रदेश-विशेष या दल-विशेष की समस्या नहीं समझा, इसे पूरे राष्ट्र की समस्या समझा और इसी नाते से उसने देश को खण्डित होने से बचाने के लिए सारे राष्ट्र को जगाने का प्रयत्न किया। अगर पंजाब से हिन्दुओं का पलायन नहीं रुकता तो खालिस्तान के समर्थकों का मनचीता हो जाता है और देश का विघटन प्रारम्भ हो जाता है। उसका असर अन्य राज्यों पर पड़ते भी देर नहीं लगेगी।

अब से लगभग दो मास पहले पंजाब के जो विस्थापित दिल्ली में आये उन्हें सबसे पहले आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग ने शरण दी। उसके बाद देश-विदेश के पत्रों में उन सब विस्थापितों का विवरण छपना शुरू हुआ। सारे देश की जनता तक सही हालात पहुँचे। स्थिति की भयंकरता का आभास केन्द्रोय सरकार को भी हो गया। तब प्रधानमन्त्री ने बरनाला सरकार को चेतावनी दी और स्वयं श्री बरनाला भी केन्द्रीय गृहमन्त्री और दिल्ली के उपराज्यपाल के साथ आर्यसमाज (अनारकली) में स्वयं उपस्थित हुए। पंजाब के विस्थापितों से उन्होंने वापस लौटने का आग्रह किया। जब विस्थापितों ने अपने ऊपर गुजरी दास्तान उन्हें सुनाई तो बरनाला की आँखें भी गीली हो गईं और उन्होंने आश्वासन दिया कि हम पंजाब के अल्प-संख्यकों को अपनी ओर से पूरी सुरक्षा देने का प्रयत्न करेंगे।

श्री बरनाला की नीयत में हमें शक नहीं है, परन्तु वे कितना कुछ कर पायेंगे, यह कह नहीं सकते। क्योंकि वे शुरू से जिस रास्ते

पर चलते रहे हैं उससे उन्होंने अपनी यह छवि बनाई है कि पंजाब की सरकार समस्त पंजाब के निवासियों की नहीं, बल्कि वह 'पंथिक-सरकार' है, इसलिए केवल सिख पन्थ के प्रति ही उसकी जिम्मेदारी है। बरनाला को छोड़ भी दें तो उनके प्रतिद्वन्द्वी, बादल और तोहड़ा, तो अब खुलेआम आतंकवादियों के समर्थन में जुट गये हैं। भले ही सारा सिख-समुदाय उनके साथ न हो, परन्तु सिखों का एक वर्ग तो उनके साथ है ही। वे बरनाला को आसानी से सफल होने नहीं देंगे। पिछले पचासेक साल से सिख मानसिकता जिस गलत रास्ते पर चलाई जाती रही है, उसका यह परिणाम है कि जब तक सिख सत्ता में नहीं होते, तब तक वे एक होते हैं और सत्ता में आते ही उनकी साम्प्रदायिकता व्यक्तिगत स्वार्थों का रूप लेकर आपस की सिरफुटौ-बल पर उतर आती है और वे एक-दूसरे की टाँग खींचने लगते हैं। आखिर महाराजा रणजीत सिंह का राज्य इसी आपसी फूट और विश्वासघात के कारण ही तो गया था। बादल और तोहड़ा ने अब जिस असली अकाली दल का निर्माण किया है, इसमें 'असली' शब्द पर जोर ही इस बात का प्रमाण है कि यह सरासर नकली दल है। परन्तु नकल को ही असल मानने वाले 'समझदारों' की संसार में कमी तो नहीं है।

पंजाब की वर्तमान समस्या के समाधान के लिए हमारा पहला सुझाव यह है कि सारा सिख-समुदाय कुल मिलाकर ४० सन्तों के निर्देशन में चलता है। यदि ये चालीसों सन्त आतंकवादियों को पन्थ-भ्रष्ट घोषित कर दें और यह कह दें कि सिख पन्थ से उनका कोई वास्ता नहीं है, वे केवल हत्यारे हैं, इन आतंकवादियों को शरण देने वाला या इनकी अन्य किसी भी तरह की सहायता करने वाला व्यक्ति भी सिख पन्थ से बहिष्कृत किया जायेगा और सरकार को उसकी सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार होगा, तो रास्ता निकलता है। अगर सारा सिख समुदाय ईमानदारी से इस दिशा में प्रयत्न करे तो

आतंकवादियों को अलग-थलग किया जा सकता है और तब उनसे सरकार आसानी से निपट सकती है। अगर सिख समुदाय अपने इन ४० सन्तों को इस दिशा में प्रेरित नहीं कर सकता, तो पंजाब में और पंजाब के बाहर गृहयुद्ध की कैसी ज्वाला भड़केगी, हम नहीं कह सकते।

दूसरा सुझाव हमारा यह है कि केवल पंजाब के ही नहीं, अपितु पंजाब के साथ-साथ जम्मू-कश्मीर और राजस्थान के भी सीमावर्ती इलाकों की लगभग २५ मील की पट्टी को केन्द्रीय प्रदेश (यूनियन टैरीटरी) घोषित किया जाय और उसे स्थायी रूप से सेना के अधीन कर दिया जाय। कानून और व्यवस्था भले ही राज्य का विषय हो, परन्तु प्रतिरक्षा केन्द्र का विषय है। ये सीमावर्ती इलाके प्रतिरक्षा की दृष्टि से बहुत नाजुक हैं। पाकिस्तान की सीमा इन इलाकों से लगी हुई है। केन्द्र को देश की रक्षा के नाते वहाँ सेना तैनात करके अपनी जिम्मेवारी पूरी करनी चाहिए। इस तरह पाकिस्तान की ओर से आतंकवादियों को सहायता की नाकेबन्दी भी हो जाएगी।

देश के साथ ही यह आर्यसमाज के लिए भी परीक्षा की घड़ी है। आर्यसमाज ने ही यह आन्दोलन शुरू करके सारे देश की जनता को जगाया है और केन्द्रीय सरकार को चेताया है। उस आन्दोलन को रचनात्मक रूप देने के लिए अब आर्य नेताओं को ऐसा कदम उठाना चाहिए जिससे देश की अखण्डता सुरक्षित रहे एवं खालिस्तान के इरादे पूरे न हो सकें। आगामी रचनात्मक आन्दोलन में हमें समस्त हिन्दू नेताओं को भी शामिल करना होगा। समस्त हिन्दू संगठनों से भी हमारा निवेदन है कि इस समय अन्य सब मुद्दों को भूलकर केवल इसी एक पहलू पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और अपनी सारी शक्ति इस बात पर लगावें कि पंजाब से आतंकवाद को कैसे समाप्त किया जाय, ताकि वहाँ के विस्थापित हिन्दू भाई पुनः अपने घरों को सुरक्षित वापस जा सकें।

## परीक्षा की घड़ी और कुछ सुझाव : ११६

साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि पंजाब के बाहर जितने सिख हैं उनको रत्ती-भर आँच न आने पाये, वे अपने आपको पूर्णतया सुरक्षित अनुभव करें। इस समय संघर्ष हिन्दू और सिख के मध्य नहीं है, यह संघर्ष आतंकवाद और देश की जनता के मध्य है। यह आतंकवाद सभी देशभक्त सिखों का भी शत्रु है क्योंकि यह सारे देश को तोड़ने की विदेशी साजिश का नतीजा है। आर्यसमाज के भावी आनंदोलन में सिखों समेत देश की समस्त जनता का सहयोग मिलेगा, ऐसा विश्वास है और यह भी विश्वास है कि आर्यसमाज इस परीक्षा की घड़ी में सही उतरेगा।

[ १३ जुलाई, १९८६ ]

## यह हिन्दू-सिख संघर्ष नहीं

इस समय पंजाब से आतंकवादियों की कारगुजारियों के कारण जिस प्रकार हिन्दुओं का पलायन हो रहा है, उससे धीरे-धीरे सारे देश में सिख-विरोधी भावना बढ़ती जा रही है। जब लोग पंजाब के इन विस्थापितों की कहण-कथा सुनते हैं तो उनका उत्तेजित हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। दहशत दोनों तरफ है। पंजाब में भी और पंजाब के बाहर भी। बाहर के सिख भागकर पंजाब जा रहे हैं और पंजाब के हिन्दू पंजाब छोड़कर अन्य प्रदेशों में जा रहे हैं।

पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री सुरजीतसिंह बरनाला का कहना है कि अभी तक २६,६०० सिख बाहर से पंजाब में आ चुके हैं और पंजाब से १५१ हिन्दू परिवार, जिनकी सदस्य संख्या कुल मिलाकर ४ या ५ हजार होगी, पंजाब से बाहर गये हैं और उनमें से भी १० परिवार पंजाब में वापस आ भी चुके हैं। हमें श्री बरनाला के इन दोनों ही आँकड़ों पर विश्वास नहीं है। सिखों की संख्या बताने में जहाँ उन्होंने आवश्यकता से अधिक अतिशयोक्ति से काम लिया है, पंजाब से पलायनकर्ता हिन्दुओं की संख्या बताने में उतनी ही अधिक हीनोक्ति से काम लिया है। अन्य सूत्रों का कहना है कि पंजाब से विस्थापित हिन्दुओं की संख्या ४० हजार से कम नहीं है। हम इन आँकड़ों की बहस में नहीं पड़ते। परन्तु एक मोटे अनुमान के अनुसार यह समझा जा सकता है कि जितने हिन्दू पंजाब से पलायन करके आये हैं, लगभग उतने ही सिख भी अन्य राज्यों से पंजाब में पहुँचे होंगे।

पर श्री बरनाला की साम्प्रदायिक नीति इस वक्तव्य के बाद पता लगती है। बाहर से आये सिखों के आवास की, उनके रोजगार की

और आधिक सहायता की पंजाब सरकार ने पूरी तरह से कोशिश की है जबकि आतंकवाद के शिकार किसी एक भी हिन्दू-परिवार के लिए बरनाला सरकार की ओर से किसी प्रकार की सहायता का कोई समाचार सामने नहीं आया। बरनाला अपनी उदारता और निष्पक्षता का कितना ही ढोल पीटें, किन्तु जब वे बार-बार अपनी सरकार को 'पंथिक सरकार' बताते हैं और उनका हरेक कदम केवल 'पंथ' को दृष्टि में रखकर ही उठाया जाता है, तो सिख पंथ से इतर लोग राज्य सरकार की दयानतदारी पर कैसे विश्वास करें? पंजाब के हिन्दुओं को पंजाब की पुलिस पर पहले ही विश्वास नहीं था, श्री बरनाला की केवल पंथप्रियता ने अपने प्रति विश्वास भी डावाँडोल कर दिया है। यही कारण है कि पंजाब से आए हिन्दू वापिस जाने को तैयार नहीं हैं।

मिजोरम समझौते के पश्चात् बादल और तोहड़ा यह माँग कर रहे हैं कि—जिस तरह मिजोरम में अभी तक विद्रोही करार दिए गये मिजो नेशनल फ्रेण्ट के नेता से बात करके समझौता किया गया है और लालड़ेंगा को मुख्यमन्त्री बनाया गया है, वैसा ही कदम पंजाब में उठाकर दमदमी टकसाल और सिख छात्र-संघ के आतंकवादियों से बातचीत करके पंजाब की समस्या का समाधान किया जाय। परन्तु क्या बादल और तोहड़ा, समस्त सिखों की बात तो छोड़ो, केवल अकाली दल के ही अपने अधिकांश लोगों के सामने ही अपनी विश्व-सनीयता भंग नहीं कर चुके हैं?

**कौन बादल और कौन तोहड़ा ?**

जिस बादल के सम्बन्ध में बरनाला का आरोप है कि वे विदेशी ताकतों के नापाक इरादों को शह देकर देश की अखण्डता को नष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं, जो बादल निहंगों और निरंकारियों की नृशंस हत्या के लिए जिम्मेदार ठहराये जा सकते हैं, जिस बादल ने मुख्यमन्त्री रहते हुए जिस भारतीय संविधान की शपथ ली थी उसी

संविधान को गुरुद्वारा बंगला साहिब में दियासलाई दिखाई थी, जो सरदार बादल अब 'जत्थेदार बादल' बनकर भिड़रावाले के वेश को अपना रहे हैं, जो बादल स्वयं सत्ता-प्राप्ति के लिए अकाली दल को तोड़ने से नहीं चूके, जिस बादल ने स्वर्ण मन्दिर से देशद्रोहियों को निकालने के लिए वहाँ पुलिस भेजे जाने का विरोध किया, जिसने विद्रोही भगोड़े सैनिकों की रिहाई की माँग की, जिसने सिमरनजीत सिंह मान जैसे अपराधी नजरबन्द पुलिस अधिकारी को राज्यसभा के लिए अपना उम्मीदवार बनाया, जो बादल अपनी सभाओं में 'खालिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगने देते रहे और जिस बादल ने केन्द्र और पंजाब सरकार के विरुद्ध खुले संघर्ष का आँखान किया है, क्या उस बादल पर कभी भी कोई राष्ट्रवादी विश्वास करेगा ?

रहे तोहड़ा साहब, उनकी विश्वसनीयता तो और भी अधिक गई-गुजरी है। स्वयं बादल का गुट ही तोहड़ा का विश्वास नहीं करता। यही तोहड़ा हैं जिन्होंने भिड़रावाले को अकाल तख्त में प्रविष्ट होने दिया था। इसी तोहड़ा ने उग्रवादियों का समर्थन करके अकाल तख्त तुड़वाया और उसकी 'कार सेवा' का काम उग्रवादियों को सौंपा। कहा जाता है कि अकाल तख्त का सोना चुराने में तोहड़ा और उसके साथियों का ही हाथ है। यही तोहड़ा आतंकवादियों को उत्थानवादी और 'अपने बेटे' बताते नहीं हिचकते। चौदह साल तक स्वयं शिरो-मणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष पद पर साँप की तरह कुण्डली मारकर बैठे रहे और जब उग्रवादियों ने ऐसी हालत पैदा कर दी कि स्वयं तोहड़ा स्वर्ण मन्दिर में घुसने की हिम्मत न कर सके, तब तोहड़ा ने बरनाला के विरुद्ध बादल से इसलिए हाथ मिलाया क्योंकि बरनाला ने ही स्वर्ण मन्दिर में उनके प्रविष्ट हो सकने की स्थिति पैदा की। उस विश्वासघाती तोहड़ा के ऊपर कौन विश्वास करेगा ?

प्रधानमन्त्री ने अपनी ओर से पेशकश की है कि वे बादल और तोहड़ा से भी बात करने को तैयार हैं, बशर्ते कि वे पंजाब में आतंक-

वाद को समाप्त करने में सरकार की मदद करें। हम समझते हैं कि लोकतन्त्र के नाते किसी विरोधी से, या घोषित शत्रु से भी बात करने में कोई हर्ज़ नहीं है। परन्तु बादल और तोहङ्गा की विश्वसनीयता पर जो प्रश्नचिह्न लगा हुआ है, उसे कौन दूर करेगा ?

फिर एक बात और भी है। पंजाब के आतंकवादी बादल और तोहङ्गा के मार्गदर्शन में नहीं चलते। आतंकवादियों को उनकी जरूरत नहीं है। बल्कि बादल और तोहङ्गा को अपने दुष्ट अभिप्रायों की पूर्ति के लिए आतंकवादियों की जरूरत है। आतंकवादियों के आका तो कहीं और हैं। जब तक वे आका उनके सिर पर वरदहस्त रखे हुए हैं, तब तक बादल और तोहङ्गा की ओकात ही क्या है? इसलिए चाहे चण्डीगढ़ पंजाब को दे दो, या बादल और तोहङ्गा से बात कर लो, या सिख छात्र संघ और दमदमी टकसाल वालों से बात कर लो, यह समस्या उस तरह सुलझने वाली नहीं है। जो लोग साँप को दूध पिलाने में विश्वास करते हैं, एक दिन वे साँप के ही काटने का फल भोगते हैं।

यहीं हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यह संघर्ष हिन्दू और सिख के मध्य नहीं है। न ही सारे सिख अकाली हैं और न ही सारे सिख राष्ट्र-द्रोही हैं। अब तक देश की रक्षा की प्रत्येक मुहिम में वे हमेशा अपने अन्य राष्ट्र-भक्त देशवासियों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर, छाती तानकर, मोर्चे पर आगे रहे हैं। हम समझते हैं कि सिखों का अधिकांश वर्ग उसी देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत है, जिस भावना से कोई भी भारत का अन्य सपूत हो सकता है। सच बात तो यह है कि आतंकवाद का किसी मजहब से, किसी पन्थ से, किसी दीन-ईमान से कोई वास्ता नहीं है। आतंकवादी केवल अपराधी हैं। उनकी सहायता करने में भी सबसे आगे वे ही लोग होते हैं, जो तस्करी आदि अपराधों में लिप्त हैं और जिनकी बागडोर भारत के बाहर किसी और जगह जुड़ी हुई है। इसलिए पंजाब की समस्या को हिन्दू-सिख

१२४ : असलियत क्या है

समस्या न समझकर केवल राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रद्रोह के मध्य संघर्ष समझा जाय ।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन राष्ट्रद्रोही आतंकवादियों की संख्या कुछ सौ से अधिक नहीं है । परन्तु उनके आतंक के कारण पंजाब या पंजाब के बाहर के विशाल सिख समुदाय की खामोशी सबसे अधिक खतरनाक है । “खामोशी भी एक अन्दाजे बयाँ है ।” पंजाब के बाहर का विशाल सिख-समुदाय यदि इन आतंकवादियों के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द नहीं करेगा, तो उनकी खामोशी का गलत अर्थ लगाये जाने की गुंजाइश हो सकती है । पंजाब में तो हिन्दुओं की ही तरह स्वयं सिख भी आतंकवादियों से भयभीत हैं । इसलिए उनकी खामोशी किसी हद तक नजरअन्दाज की जा सकती है । परन्तु पंजाब के बाहर के सिखों की खामोशी देश के लिए बहुत खतरनाक हो सकती है । यह याद रहे कि इन आतंकवादियों को पंजाब के बाहर के सिखों की रक्ती-भर चिन्ता नहीं है । वे अपने पागलपन में इनको बलि का बकरा बनाना चाहते हैं । पंजाब से हिन्दुओं का पलायन रुके तो बाहर के सिखों का पलायन अपने आप रुक जाएगा । पहले कारण को हटाओ तो कार्य अपने आप हट जाएगा । जो हिन्दू-प्रतिक्रिया की शिकायत करते हैं, उन्हें यह समझाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि क्रिया के बिना प्रतिक्रिया कभी नहीं होती ।

[ २० जुलाई, १९८६ ]

## प्रथम चरण की सफलता

१२ और १३ जुलाई को आर्य जनता के विशाल कन्वेंशन में पंजाब की स्थिति के सम्बन्ध में आन्दोलन के प्रथम चरण का निश्चय किया गया था। उसके अनुसार भारत सरकार को और पंजाब सरकार को अल्टीमेटम दिया गया था कि यदि १५ अगस्त तक पंजाब से हिन्दुओं का पलायन नहीं रुका और सरकार ने आतंकवादियों पर काबू पाने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाया तो आर्यसमाज १५ अगस्त के पश्चात् अपने आन्दोलन का दूसरा चरण प्रारम्भ करेगा। आन्दोलन के दूसरे चरण का रूप क्या होगा, इस पर विचार के लिए विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों की एक द सदस्यों की कमेटी भी बना दी गई थी। उसके बाद आर्यसमाज की माँगों से प्रधानमन्त्री को परिचित कराने के लिए आर्यसमाज का एक शिष्टमण्डल सार्वदेशिक सभा के प्रधान के नेतृत्व में श्री राजीव गांधी से मिला भी।

हम पहले भी कई बार लिख चुके हैं कि आर्यसमाज की कोई माँग कभी किसी साम्प्रदायिक या दलीय हित से प्रेरित नहीं होती, उसका दृष्टिकोण हमेशा असाम्प्रदायिक और राष्ट्रीय रहता है। इसीलिए आसानी से यह समझा जा सकता है कि आर्यसमाज की माँगों के पीछे भारत के विशाल राष्ट्रवादी जनों का बल है। आर्यसमाज के पंजीकृत सदस्यों की संख्या देश की कुल जनसंख्या की दृष्टि से केवल ५ प्रतिशत हो, परन्तु हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि देश के विशाल बुद्धिजीवी वर्ग पर आर्यसमाज के विचारों की जितनी छाप है, उतनी अन्य किसी संस्था के विचारों की नहीं है।

इसलिए एक प्रकार से आर्यसमाज की आवाज राष्ट्र की आवाज बन जाती है।

आर्यसमाज के इस असाम्प्रदायिक और राष्ट्रवादी स्वरूप का ही परिणाम है कि अब धीरे-धीरे आर्यसमाज के आन्दोलन के प्रथम चरण की सफलता दिखाई देने लगी है। आर्यसमाज ने पंजाब के विस्थापितों के सम्बन्ध में जो शान्तिपूर्ण आन्दोलन चलाया—जिसका श्रेय आर्यसमाज, मन्दिरमार्ग को प्राप्त है—और सारे देश की जनता को सही हालात से अवगत कराकर राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया, उसी का यह परिणाम है कि पंजाब सरकार ने और भारत सरकार ने भी स्थिति की गम्भीरता को पूर्णतया हृदयंगम करके अपनी योजना बनाई और पिछले कुछ दिनों से उसका फल दृष्टिगोचर होने लगा है।

भले ही भारत सरकार ने पंजाब की बरनाला सरकार को बर्खास्त नहीं किया, राष्ट्रपति शासन भी लागू नहीं किया और सीमावर्ती चारों जिलों में सेना भी नहीं भेजी, परन्तु आन्तरिक रूप से आतंकवादियों पर काबू पाने के लिए उसने कारगर कदम उठाने में कसर नहीं छोड़ी है। पाठकों को ध्यान होगा कि हमने पिछले अंकों में आतंकवादियों से निपटने के लिए दो मुद्दों पर विशेष जोर दिया था। पहला मुद्दा तो यह था कि जितने भी सन्त और मुख्यग्रंथी हैं, उनसे 'हुक्मनामा' जारी करवा के आतंकवादियों को 'हत्यारा', 'पन्थ का गद्दार' और 'देशद्रोही' घोषित करवाया जाय। अब सरदार रछपालसिंह (तारासिंह गुट) भी वही बात कह रहे हैं और पंजाब के मुख्यमन्त्री बरनाला भी कह रहे हैं कि मैं स्वर्ण मन्दिर के मुख्य ग्रन्थियों को इस बात के लिए प्रेरित करूँगा। यहाँ हम मुख्य ग्रन्थियों की सेवा में भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि यदि उन्होंने आतंकवादियों के विरोध में 'हुक्मनामा' जारी करके उनको गद्दार और देशद्रोही घोषित नहीं किया तो वह दिन दूर नहीं है जब स्वयं

आतंकवादी स्वर्ण मन्दिर पर हावी हो जायेंगे और इन मुख्य ग्रन्थियों को ही वहाँ से निकालकर इनके स्थान पर अपने आदमी बैठा देंगे। आखिर सन्त कृपाल सिंह और सन्त साहब सिंह जैसे आदरास्पद व्यक्तियों पर वे प्राणघातक हमले कर ही चुके हैं। अभी तक पहल स्वर्ण मन्दिर के वर्तमान ग्रन्थियों के हाथ में हैं। इसलिए अपने पद पर रहते हुए यदि उन्होंने आतंकवादियों की खुराफातों से सिख पन्थ को बचाने का प्रयत्न नहीं किया तो वे सिख पन्थ को तो डुबोएँगे ही, अपना अस्तित्व भी समाप्त कर देंगे। इसलिए मुख्य ग्रन्थियों को अपने अस्तित्व के लिए भी आतंकवादियों के विरुद्ध 'हुक्मनामा' जारी करना ही चाहिए।

दूसरा सुझाव हमने यह दिया था कि प्रतिरक्षा का विषय सीधा केन्द्र के अधीन है, इसलिए प्रतिरक्षा की दृष्टि से भारत सरकार को चाहिए कि वह पंजाब, जम्मू-कश्मीर और राजस्थान के पाकिस्तान से लगने वाले सीमावर्ती इलाके की २५ मील की पट्टी पर स्थायी रूप से सेना की नियुक्ति कर दे और उस प्रदेश के केन्द्रीय प्रदेश (यूनियन टैरीटरी) घोषित कर दे। ऐसा कदम उठाने के लिए भारत सरकार को न तो उन राज्य सरकारों से पूछने की जरूरत है और न ही संविधान में परिवर्तन की जरूरत है। पाकिस्तान से लगती हुई सीमा की सुरक्षा करना केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य है और इसके लिए वह उपरोक्त कदम उठाने में न केवल सक्षम है बल्कि अपने कर्तव्य से बंधी भी हुई है। हमें प्रसन्नता है कि भारत सरकार ने इस सुझाव पर भी पूरी गम्भीरता से विचार करना स्वीकार किया और उस दृष्टि से कुछ सक्रिय कदम भी उठाये हैं।

उदाहरण के लिए, आर्यसमाज के प्रथम चरण की घोषणा के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही सीमा-सुरक्षा बल, केन्द्रीय सुरक्षा बल और पंजाब पुलिस ने मिलकर तथाकथित खालिस्तान की राजधानी पर, उसे चारों ओर से घेर कर, उस पर हमला किया। इस हमले में

७५ आतंकवादी पकड़े गये, काफी हथियार वरामद हुए और जानकार लोगों का कहना है कि इस जबर्दस्त अभियान से आतंकवादियों की कमर टूट चुकी है। यह वही इलाका है जो व्यास और सतलुज के बीच में है और ऊँची-ऊँची हाथों घास और सरकणों से घिरा जुआ है। पाकिस्तान की सीमा वहाँ से बहुत नजदीक है। यह आतंकवादियों के छिपने का सबसे बड़ा अड़डा था और यहीं गुपचुप रूप से उन्होंने 'खालिस्तान' की 'राजधानी' बना रखी थी। वे अपनी इस गुप्त राजधानी से निकलकर तरन-तारन, फतेहाबाद, खड़र साहब तथा आसपास के गाँवों में हिन्दुओं को गोली का निशाना बनाते और वापस भागकर अपनी इस राजधानी में छिप जाते। यह इलाका मण्ड के नाम से मशहूर है। पुलिस और सीमा सुरक्षा बल के अभियान में नावों और हैलीकाप्टरों का भी उपयोग किया गया।

इस अभियान में जैसी सफलता मिली है, उससे यह भी लगता है कि यदि इसी प्रकार सरकार जागरूक रहे और पुलिस, सेना मिलकर आतंकवादियों के विरुद्ध मोर्चा ले, तो आतंकवाद समाप्त किया जा सकता है। आखिर पुलिस के पास इन आतंकवादियों की सूची भी है और पंजाब की पुलिस व्यक्तिगत रूप से उन आतंकवादियों को पहचानती भी है। अभी तक सबसे बड़ी शिकायत यही है कि पंजाब की पुलिस उन आतंकवादियों से मिली हुई है। पुलिस वाले ही उनको अपनी वर्दी भी देते हैं और अपने हथियार भी देते हैं और आतंकवादी पुलिस के वेश में जाकर जिनको मारना होता है, उनको मारकर और चारों ओर धुँआधार करके वापस भाग जाते हैं। अगर पुलिस की मिलीभगत न होती, तो आज तक हत्या करने के बाद कोई तो आतंकवादी पकड़ा गया होता। यह मिलीभगत कितनी गहरी है, यह इस बात से पता लगता है कि आतंकवादी कपूरथला की जेल से अपने दो साथियों को छुड़ाकर ले गये। अगर जेल के अधिकारी इस काण्ड में शामिल न होते, तो यह सम्भव नहीं था।

हम बार-बार यह भी कह चुके हैं कि जब तक पंजाब के बाहर के सिख आतंकादियों के विरोध में आवाज बूलन्द नहीं करेंगे और पंजाब से हिन्दुओं का पलायन रेकने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठायेंगे तो इस क्रिया की प्रतिक्रिया को रोकना अधिक देर तक सम्भव नहीं होगा। इस प्रतिक्रिया के कुछ लक्षण पंजाब में दिखाई देने लगे हैं। अमृतसर और जालन्धर में शिवसेना के लोगों ने जो कुछ किया उसको इसी दृष्टि से देखना होगा। कृपाण को अपनी अलग पहचान का और धार्मिक चिह्न का रूप देने वालों को त्रिशूल पर आपत्ति करने का अधिकार नहीं है। क्योंकि त्रिशूल पर की जाने वाली आपत्ति उससे पहले कृपाण पर लागू होनी चाहिए। हम सामाजिक मर्यादा में हिंसा के पक्षधर नहीं हैं, परन्तु कायरता हिंसा से भी ज्यादा बुरी होती है। स्वयं सरदार रछपालसिंह ने इस बात का स्वागत किया है कि अब पंजाब के लोग आतंकवादियों का मुकाबला करने के लिए शस्त्र-सन्नद्ध हो रहे हैं। जिस तरह आतंकवादी निर्दोष लोगों की हत्या करते हैं, उसके बदले में कुछ और निर्दोष लोगों की हत्या कैसे रुक सकती है। यद्यपि वह सर्वथा अमानवीय है। परन्तु यह अमानवीयता एक पक्षीय तो नहीं हो सकती। आतंकवादियों की कार्रवाई में अमानवीयता पहले नजर आनी चाहिए। हम फिर दोहराते हैं कि प्रतिक्रिया को रोकना चाहते हो तो पहले क्रिया को रोको। जब तक क्रिया मौजूद है, तब तक प्रतिक्रिया की हमेशा गुंजाइश रहेगी।

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि क्या पंजाब में आतंकवाद समाप्त हो जायेगा? हम भविष्यवक्ता नहीं हैं। वह काम ज्योतिषियों का है। हम तो अपनी सहज बुद्धि के अनुसार घटनाचक्र के वर्तमान रुख को देखते हुए कुछ भली आशाएँ ही कर सकते हैं। हम आर्य जनता से इतना ही कह सकते हैं—“भले की आशा करो और बुरे की तैयारी करो।” (होप फार गुड एण्ड प्रोपेयर फार द बैड)।

## खामोश क्यों हो ?

हे स्वतंत्रता दिवस ! तुम फिर आ गये ।

पिछले ३६ वर्षों से तुम हर वर्ष १५ अगस्त के दिन ऐसे ही आ जाते हो जैसे तुम्हें पता हो कि पिछले १५ अगस्त के बाद हमारी इस पृथ्वी ने सूर्य की एक और परिक्रमा पूरी कर ली है । तुम अपने हिंसाब से आते हो, पर हम तो तुम्हें अपनी भावनाओं से जोड़कर ही देख पाते हैं ।

अब से ३६ वर्ष पहले, जब तुम पहली बार आये थे तो मन में कितनी उमंग थी । लगभग दो शताब्दी की पराधीनता के पश्चात् वह स्वाधीनता के नवसूर्योदय का पहला दिन था । विदेशियों की दासता में रहकर हमने कितने कष्ट भोगे थे और अपनी पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए हमने कितना संघर्ष किया था, यह तुमको तो याद होगा । हालाँकि तुम्हारे आगमन के पश्चात् जो नई पीढ़ी देश में आई उसको उस संघर्षमय इतिहास का आभास भी नहीं है । बल्कि बहुतों को तो उस युग की कथाएँ किसी स्वप्नलोक की कथाएँ प्रतीत होंगी । तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में कितनी रातें बैचैनी में काटीं और अन्तिम समय तक सन्देह बना रहा कि पता नहीं, ऐन आखिरी वक्त कोई अड़ंगा खड़ा न हो जाय और अचानक तुम न आ पाओ ।

पर नहीं, तुम आये, पूरी शान के साथ आये । धूम-धड़ाके के साथ आये । हालाँकि देश के विभाजन की टीस हरेक के दिल में गहरी चुभी हुई थी । शरणार्थियों के अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व लम्बे काफिलों पर काफिले पाकिस्तान से निकलकर भारत माता की गोद में आने के लिए छटपटा रहे थे । तुम्हारा आँचल लाखों शरणार्थियों के खून

से तर था। सब देशवासियों की आँखें उनके दर्द से गीली थीं। कैसा विचित्र दृश्य था। आँसू दोनों आँखों में थे, पर एक आँख में दर्द के आँसू थे और दूसरी आँख में खुशी के आँसू, क्योंकि चिरकाल की साधना के पश्चात् तुम आये थे और स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री ने लालकिले की प्राचीर पर अपने देश का झण्डा पहली बार फहराया था। कितना जन-समुदाय उमड़ पड़ा था उस अभूतपूर्व दृश्य को देखने के लिए, यह तुम्हें याद है न !

मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि इतने सालों से लगातार तुम नियमपूर्वक आ रहे हो, पर तुम्हारी अगवानी में देशवासियों के पलक पाँवड़े अब वैसे क्यों नहीं बिछते जैसे पहले बिछते थे। जिन्होंने पहले स्वतन्त्रता दिवस का दृश्य देखा है, वे इस परिवर्तन को देखकर चकित होते हैं। आजादी के प्रति वह उत्साह, वह उमंग और वह उल्लास कहाँ चला गया? अब देश में कुछ ऐसे नामाकूल लोग भी पैदा हो गये, जो यह कहने से भी बाज नहीं आते कि इस आजादी से तो अंग्रेजों का राज ही अच्छा था। ऐसा कहने वालों के मुँह में राख। क्योंकि ऐसे लोगों ने कभी आजादी के सही अर्थ को समझा ही नहीं। वे नहीं जानते कि प्रत्येक अधिकार के साथ कुछ कर्तव्यों की श्रृंखला जुड़ी होती है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ भी जिस कर्तव्य-श्रृंखला का हमको निर्वाह करना था, वह तो हमने किया नहीं, उल्टा आजादी को ही कोसने लगे।

जिन लोगों ने आजादी के लिए अपना खून तो क्या, पसीने की एक बूँद भी नहीं बहाई, और जिनको अपने पूर्वजों द्वारा दिए गए बलिदानों की एवज में आजादी मुफ्त में विरासत में मिल गई, वे अपने अपरिश्रम से अर्जित सम्पदा के महत्व को क्या जानें? बाबा नानक की वह कहानी याद है न, जब उन्होंने दो रोटियों को निचोड़ा था तो एक रोटी में से खून निकला था और दूसरी रोटी में से दूध। भक्तों ने पूछा—‘भगवन यह क्या चमत्कार है?’ तब गुरुजी ने कहा

था—‘जिस रोटी में से खून निकला है, उसका अन्न शोषण से कमाया गया था और जिस रोटी में से दूध निकला है, उसका अन्न पसीना बहाकर कमाया गया था।’

सचमुच आजादी अभिशाप नहीं, वरदान है। परन्तु किनके लिए यह अभिशाप बन गई और किनके लिए वरदान—हे स्वतन्त्रता दिवस ! यह भी तो तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो। यह ठोक है कि अंग्रेज चले गये और देश का शासन भारतवासियों के हाथ में आ गया। परन्तु किन भारतवासियों के हाथ में ? उनके हाथ में जो शक्ल-सूरत और बाहरी वेष-विन्यास से तो भारतीय थे परन्तु अपनी समझ-बूझ, बोलचाल और दिमाग से मैकाले के मानस-पुत्र थे। उसी का यह परिणाम हुआ कि अंग्रेज तो गये, पर अंग्रेजी नहीं गई। आज भारत में इस बात पर गर्व करने वालों की कमी नहीं है जो छाती ठोककर यह कहते हुए शेखी बधारते हैं कि अब आजाद हिन्दुस्तान में गुलाम हिन्दुस्तान की अपेक्षा अंग्रेजी अधिक फूली-फली है।

इतना ही क्यों, जिस साम्प्रदायिकता के विष के निवारण के लिए देश के नेताओं ने मन मारकर देश का विभाजन स्वीकार किया था, वही साम्प्रदायिकता का विष पहले से कहीं ज्यादा जन-मन पर हावी हो गया है। राष्ट्र में जिस एकता की कल्पना हमने की थी, वह छिन्न-भिन्न हो गई और विघटनकारी शक्तियाँ आसमान तक ऊँची चढ़कर सारे देश को अपने इशारे पर नचा रही हैं। भारतीय विधि-निर्माताओं ने देश के संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता के आदर्श सिद्धान्त को अंकित किया था, अब वही सिद्धान्त हमारे गले की हड्डी बन गया है। संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता को बुनियादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् होना तो यह चाहिए था कि किसी भी सम्प्रदाय के नाम पर निर्मित किसी दल को राजनीतिक मान्यता न मिलती, पर हो गया उल्टा। मुस्लिम लीग देश के विभाजन के पश्चात् मरणासन्न अवस्था में हो गई थी। उसको हमारे

देश के नेताओं ने ही पुनर्जीवन दान दिया ।

कोई मुस्लिम बन्धुओं से पूछे कि ब्रिटेन और अमरीका आदि अन्य देशों में भी तो आप अल्पसंख्यक के रूप में रहते हैं, पर वहाँ आपका कोई 'पर्सनल लॉ' नहीं है और वहाँ बहु-विवाह वर्जित है, तो भारत में ही अलग 'पर्सनल लॉ' के लिए आप क्यों अड़े हुए हैं? इण्डोनेशिया आदि देशों में मुसलमान भी सूअर का मांस खाते हैं। अनेक मुस्लिम देशों में सड़कें चौड़ी करने के लिए मस्जिदों को गिराया गया है और कब्रिस्तानों को साफ किया गया है। कई मुस्लिम देशों ने परिवार नियोजन भी शुरू कर दिया है। स्वयं पाकिस्तान ने शरीयत के मुताबिक 'मुताह' को रद्द कर दिया है। इसका मतलब यह है कि यदि कोई तलाकशुदा औरत अपने पति से दोबारा निकाह करना चाहे तो उसे अन्य किसी पुरुष से निकाह करके उससे सहवास करना पड़ेगा और जब अन्य पुरुष उसे तलाक दे दे तभी वह अपने पूर्व पति से निकाह कर सकती है। पाकिस्तान ने मुताह की इस शर्त को हटा दिया है।

इसके अलावा इसी सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर अल्पसंख्यक, बहुसंख्यकों की उपेक्षा करके विशेषाधिकार मांते हैं। जितने अधिकार भारत के अल्पसंख्यकों को प्राप्त हैं उतने अधिकार संसार के किसी देश में अल्पसंख्यकों को प्राप्त नहीं हैं। परन्तु भारत के अल्पसंख्यक हैं कि उनकी माँगें कभी समाप्त नहीं होतीं और वे हमेशा 'और-और' की माँग करते रहते हैं। भारत में अल्पसंख्यकों के इस रवैये को देखकर ही संयुक्त-राष्ट्रसंघ की रिपोर्ट में यह भविष्यवाणी की गई है कि आगामी ३०-३५ वर्षों में इसाई और मुसलमान मिलकर बहुसंख्यक बन जाएंगे और इस देश में हिन्दू अल्पसंख्यक बनकर रह जाएंगे। मुस्लिम लीग के पद-चिह्नों पर ही चल रहा है अकाली दल और वह सोचता है कि जिस तरह हिंसा और आतंक फैलाकर मुसलमानों ने पाकिस्तान ले लिया,

उसी प्रकार हम भी हिंसा और आतंक के माध्यम से खालिस्तान ले लेंगे।

इस प्रकार इन विघटनकारी शक्तियों ने अपने नाखून और दाँतों को और पैना करने के लिए सशस्त्र सेनाएँ खड़ी करनी शुरू कर दी हैं। अकाली दल में तो बब्बर खालसा और सिख-छात्र-संघ जैसे हत्याओं का व्यापार करने वाले आतंकवादी हैं ही। उन्होंने मुसल-मानों के साथ मिलकर इस देश को खण्डित करने का अपना इरादा अब गुप्त नहीं रहने दिया है। मुसलमानों की ओर से अब 'आदम सेना' और 'हव्वा-सेना' तैयार की जा रही है। हिंसा के माध्यम से अपने मंसुबों को पूरा करने वाले ये वर्ग शिव सेना और बजरंग दल की आड़ लेते हैं। परन्तु वे यह क्यों भूल जाते हैं कि सांप को दूध पिलाने वाले और चींटियों के बिलों पर आटा डालने वाले, 'अहिंसा परमो धर्मः' के उपासक हिन्दुओं के रक्त और स्वभाव में हिंसा है ही नहीं। दो-दो इंच के त्रिशूल केवल दिखावटी हैं, वे किसी की हिंसा नहीं कर सकते। वे तो बच्चों के खिलौनों की तरह हैं। फिर कृपाण धारण करने वाले इस दो इंच के त्रिशूल से डरें तो इसका औचित्य किसी की समझ में आ सकता है? यह तो कुछ सिरफिरे हिन्दुओं की प्रतिक्रिया मात्र है। हम फिर कहते हैं—केवल प्रतिक्रिया मात्र है। अगर क्रिया नहीं होगी तो प्रतिक्रिया भी नहीं होगी। जिनको प्रतिक्रिया की चिन्ता है, उनको पहले क्रिया को रोकने की चिन्ता करनी चाहिए। प्रतिक्रिया के विरुद्ध शोर मचाना और क्रिया को प्रच्छन्न प्रश्रय देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

एक बात स्पष्ट है कि जब देश के भीतरी और बाहरी शत्रु देश की आजादी के लिए खतरा बन गये हों तथा हिन्दू और हिन्दुस्तान को निगल जाने की पूरी तैयारी में हों, तो हे स्वतन्त्रता दिवस! हम तुम्हीं से पूछते हैं कि तुम बोलो ना, अब हम क्या करें। तुम खामोश क्यों हो?

इस स्वतन्त्रता दिवस के नाम से हे देश के जन-गण ! हम तुमसे पूछते हैं कि अपने ऊपर लहराती और घहराती इस संकट की घटा को देखकर भी तुम खामोश क्यों हो, बोलते क्यों नहीं ? अगर तुम इसी तरह खामोश रहे तो एक दिन इकबाल की भविष्यवाणी सफल हो जायेगी—

न समझोगे तो मिट जाओगे ऐ हिन्दोस्ताँ बालो ।

तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में ॥

[ १७ अगस्त, १९८६ ]

## राष्ट्रगान और धर्म

उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रगान के सम्बन्ध में जो निर्णय दिया है, उसने सारे राष्ट्र को चौंका दिया है। उच्चतम न्यायालय का यह कहना है कि यदि किसी की धार्मिक मान्यता के विरुद्ध हो तो 'जन-मन-गण' का राष्ट्रगान गाने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि संविधान ने देश के प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति की और धार्मिक मान्यताओं की स्वतन्त्रता प्रदान की है। केरल के सुदर्शन संस्कृत विद्यालय के तीन विद्यार्थियों ने कहा कि हम बाईबिल में वर्णित यहोवा और ईसामसीह के सिवाय और किसी को नहीं मानते और हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जिस दिन सारे संसार में यहोवा का राज्य स्थापित होगा, इसलिए न हम किसी राष्ट्र में विश्वास करते हैं, न राष्ट्रभक्ति की शपथ लेते हैं, न किसी ध्वज को अपना ध्वज मानते हैं और न किसी राष्ट्रगीत को राष्ट्रगीत स्वीकार करते हैं। केरल के उच्च न्यायालय ने उक्त तीनों विद्यार्थियों को राष्ट्रगीत गाने से इन्कार करने के कारण अपराधी पाया था। उच्च न्यायालय का कहना था कि धार्मिक आजादी के नाम पर राष्ट्रगीत न गाने की छूट नहीं दी जा सकती। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय को यह कहकर पलट दिया कि धार्मिक आजादी हमारे संविधान का मूल-भूत सिद्धान्त है इसलिए किसी धार्मिक संगठन की भावनाओं का विचार करते हुए उन पर राष्ट्रगीत गाने की अनिवार्यता नहीं थोपी जा सकती।

असल में सारा विवाद धर्म और सम्प्रदाय के भेद को न समझने के कारण है। इसी अविवेक के कारण 'सैक्यूलर' शब्द के लिए धर्म-निरपेक्ष शब्द का चलन चल पड़ा। 'सैक्यूलर' शब्द का जन्म पश्चिम

में थियोक्रेटिक स्टेट (धार्मिक राज्य) के मुकाबले में हुआ। हमारे लिए और पश्चिम की दुनिया के लिए धर्म का अलग-अलग मतलब है। उनके यहाँ धर्म जैसी कोई चीज नहीं है, केवल सम्प्रदाय है। वे उसी को धर्म समझते हैं और इसीलिए पश्चिम में धर्म कभी अन्तर्मुखी न होकर हमेशा बहिर्मुखी रहा है। पश्चिम में धार्मिक स्वतन्त्रता और धर्म-निरपेक्षता दोनों का अर्थ हमारे यहाँ से भिन्न है।

जब यूरोप के देशों में मध्यकालीन चर्च ने राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया, तब चर्च से अलग एक राजनैतिक संस्था के रूप में 'सैक्यूलर स्टेट' का विचार पैदा हुआ जिसका अभिप्राय केवल इतना था कि राज्य केवल लोगों के लौकिक जीवन की व्यवस्था करेगा, क्योंकि धार्मिक जीवन की व्यवस्था का अधिकार तो चर्च का रहेगा ही। जिन कारणों से पश्चिम में चर्च को राज्य के दायरे से अलग करने की कोशिश की गई, वैसा भारत में कभी नहीं हुआ। हमारे यहाँ धर्म और सम्प्रदाय में हमेशा भेद किया गया और कभी किसी संस्था ने किसी भी सम्प्रदाय के विधि-विधान को पूरे समाज पर लादने की कोशिश नहीं की। यूरोपीय समाज की प्रवृत्ति सर्व-सत्तावादी रही है। इसलिए वहाँ चर्च या राज्य दोनों के मार्फत धार्मिक या राजनैतिक विधि-विधान सब पर लादने की कोशिश की जाती रही है और इसीलिए वहाँ चर्च और राज्य में सदा संघर्ष चलता रहा है।

धर्म और सम्प्रदाय में मूल-भूत भेद है। धर्म का आधार नैतिकता होती है और सम्प्रदाय का आधार किसी व्यक्ति विशेष में निष्ठा और उसके द्वारा बताया गया कर्मकाण्ड। पश्चिम की दुनिया ने धर्म और सम्प्रदाय को पर्यायवाची मानकर एक घपला पैदा कर दिया जो भारत के इतिहास में कभी नहीं रहा। भारत ने अपनी मूल वैदिक मान्यताओं के अनुसार सारी मानव जाति को एक इकाई मानकर नैतिक दृष्टि से मानव जाति को धारण करने वाले कुछ नियमों का

प्रतिपादन किया और उसी को धर्म की संज्ञा दी। उस धर्म को वैदिक धर्म कहो या मानव धर्म कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। वह सार्वकालिक भी है और सार्वदेशिक भी। मनुष्य जाति के जन्म से लेकर आज तक उसकी नैतिक मान्यताओं में कभी कोई अन्तर नहीं आया। यदि सत्य बोलना और सत्याचरण करना सृष्टि के आदि में धर्म था तो आज भी वह धर्म है। मानव जाति के नैतिक आधारों को बताने वाले उस धर्म की परिभाषा करनी हो तो योग-दर्शन के यम और नियम के रूप में की जा सकती है। यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। यहाँ इन यम-नियमों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञ लोग स्वयं जानते हैं। इन यम-नियमों के साथ ही मनुस्मृति के अनुसार, जिसे हम धर्मशास्त्र मानते हैं, धर्म के ये दस लक्षण हैं—

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।**

**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम् ॥**

योग-दर्शन ने यम और नियम के रूप में जिन दस बातों का परिगणन किया है, लगभग वही दस बातें मनुस्मृति के इस दस लक्षण वाले धर्म में कही गई हैं। यही सार्वत्रिक धर्म है और यह धर्म ऐसा है जिसका विरोध कोई भी सम्प्रदाय नहीं कर सकता। और-तो-और, हम तो यहाँ तक कहेंगे कि जितने अवैदिक मत-मतान्तर हैं वे भी धर्म के इन दस लक्षणों को अस्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ये नैतिकता पर आधारित हैं और वह नैतिकता मनुष्य-जाति के हृदय और बुद्धि के माध्यम से संसार के हर देश और हर वर्ग के द्वारा स्वीकृत है। किसी भी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में अगर सब सम्प्रदायों में से उनके पैगम्बरों को निकाल दिया जाय तो उनके भेद की सबसे बड़ी दीवार चूर-चूर हो जायेगी और वे नैतिकता की समान बातों पर सहमत हो जायेंगे। धर्म मनुष्य

जाति को जोड़ता है और सम्प्रदाय मानव को मानव से तोड़ता है। सम्प्रदायवादी केवल अपने सम्प्रदाय को महत्व देता है, वह अपने से भिन्न सम्प्रदाय वालों को काफिर और 'वाजिबुल कत्ल' तक कहने में संकोच नहीं करता। सम्प्रदाय ही मानव जाति के दुश्मन हैं और जब तक इन सम्प्रदायों का अस्तित्व रहेगा तब तक वे मनुष्य जाति को कभी एक नहीं होने देंगे और न कभी शान्ति से जीने देंगे।

पश्चिम की दुनिया ने धर्म और सम्प्रदाय को गड्ढ-मढ्ढ करके सम्प्रदायों के विरुद्ध उमड़ते बुद्धिवादियों और वैज्ञानिकों के आक्रोश को धर्म के विरुद्ध मोड़ दिया और जो गालियाँ सम्प्रदाय को दी जानी चाहिए थीं, वे धर्म को दो जाने लगीं, जबकि धर्म सर्वथा निर्दोष था। इसी दोहरी मानसिकता के कारण पश्चिम के सामाजिक जीवन में और वैयक्तिक जीवन में अन्तर्विरोध पैदा हुआ क्योंकि उनका धर्म बुद्धि-विरुद्ध होने के कारण विज्ञान की रोशनी के सामने नहीं टिक सका। इसलिए उन्होंने धर्म को ही सब अनर्थों की जड़ मानना प्रारम्भ कर दिया और तभी धर्म को अफीम कहने वाली समाजवादी विचारधारा का प्रचार हुआ। यह पश्चिम की दुनिया में ही सम्भव है कि कोई ईसाई युवक यह कहे कि जब मैं गिरजाघर में जाता हूँ तब तो पृथ्वी नहीं धूमती, सूरज नहीं धूमता है, पर जब मैं स्कूल में जाता हूँ या प्रयोगशाला में जाता हूँ तब सूरज नहीं धूमता, पृथ्वी धूमती है। इस प्रकार विज्ञान और बुद्धि के विरुद्ध बातें न केवल ईसाइयत या इस्लाम में, बल्कि संसार के तथाकथित सभी मुख्य सम्प्रदायों में विद्यमान हैं। इसलिए वे अपनी धार्मिक मान्यताओं में तर्क को दखल नहीं देते। एक तरफ ये सम्प्रदाय हैं जो केवल ईमान पर बल देते हैं और तर्क से घबराते हैं और दूसरी तरफ वैदिक धर्म है जो यह घोषणा करके चलता है—

यस्तकेणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।

—अर्थात् जो तर्क से अनुसंधान करता है वही धर्म को पहचान सकता है। जिस प्रकार प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं टिक सकता,

उसी प्रकार व्यक्तिवाद पर आधारित और नाना अन्धविश्वासों को प्रश्न देने वाले विभिन्न मत-मतान्तर भी तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते।

और क्योंकि वे तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते, इसी-लिए धर्म के नाम से अपनी बुद्धि-विरुद्ध बातों को राष्ट्र से ऊपर मानने की बात कहते हैं। जिसका धर्म अपने से भिन्न सम्प्रदायों को बर्दाश्त नहीं कर सकता, वे राष्ट्र को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते और इसी-लिए अपने तथाकथित धर्म को, अर्थात् सम्प्रदाय को, राष्ट्र से बढ़कर महत्त्व देते हैं। एक राष्ट्र का अर्थ यह है कि अनेक सम्प्रदायों के लोग भले ही उस राष्ट्र में रहते हों, परन्तु वे अपने सम्प्रदाय से ऊपर राष्ट्र को महत्त्व देंगे। जब से राष्ट्र के बजाय सम्प्रदाय को महत्त्व देने की बात चली, तभी से अल्पसंख्यकों का अनुचित महत्त्व भी बढ़ा है। उच्चतम न्यायालय ने धार्मिक स्वतन्त्रता के नाम से साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता को मान्यता देकर पश्चिम की दृष्टि से भले ही धार्मिक आजादी की रक्षा की हो, लेकिन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से वह सरासर अधार्मिक है। राष्ट्र के जो भी प्रतीक हों, उनका सम्मान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है और यदि कोई नागरिक किसी राष्ट्र के प्रतीक का उचित सम्मान नहीं करता तो उस व्यक्ति को राष्ट्र का नागरिक कहलाने का अधिकार नहीं है। किसी एक राष्ट्र में दो संविधान नहीं चल सकते। भारत में भी या तो भारतीय संविधान चलेगा या यहोवा का, इसा का, मूसा का या मोहम्मद का।

यहीं फिर प्रश्न पैदा होगा कि व्यक्ति बड़ा है या राष्ट्र और यदि किसी राष्ट्र का कोई नागरिक किसी व्यक्ति-विशेष को राष्ट्र से बड़ा मानता है, तो राष्ट्र को उसकी नागरिकता के बारे में सोचना होगा। जो व्यक्ति राष्ट्र के प्रतीकों को उचित सम्मान नहीं दे सकता, राष्ट्र के लिए उसे अपनी नागरिकता का अधिकार देने का क्या औचित्य है?

## संस्कृति और नई शिक्षा-नीति

आजकल नई शिक्षा-नीति पर बहुत चर्चा हो रही है। हमारी विज्ञान-प्रिय सरकार देश को इकोसवीं सदी में ले जाने के लिए जिस प्रकार देश को तैयार करना चाहती है उसका आधार नई शिक्षा ही है। सिद्धान्त रूप से यह बात ठीक है कि जिस ढंग की शिक्षा दी जायेगी, हमारी भावी पीढ़ी उसी ढंग की तैयार होगी। परन्तु यदि नीति-निर्माताओं की दृष्टि में स्पष्टता न हो तो उसका परिणाम भावी पीढ़ी के साथ-साथ सारे देश को भी भोगना पड़ेगा। यदि नीति-निर्माताओं की दृष्टि में स्पष्टता नहीं है तो इसमें दोष उनकी नीयत का नहीं है, प्रत्युत कारण यह है कि स्वयं इन नीति-निर्माताओं ने अपने जीवन में जो शिक्षा ग्रहण की है, उसी के अनुसार वे भावी पीढ़ी को भी ढालना चाहते हैं।

मानव संसाधन मन्त्रालय के निर्माण से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि अब सरकार की दृष्टि में मानव भी अन्य जड़ पदार्थों की तरह एक संसाधन मात्र है, कोई स्वतन्त्र कर्तृत्व वाला चेतन पिण्ड नहीं। इसीलिए वे मानव को संसाधन के रूप में विकसित करना चाहते हैं। इसीलिए शिक्षा के साथ रोजगार-प्रशिक्षण पर जोर दिया जा रहा है, शिक्षा को भी एक उद्योग के साँचे में ढाला जा रहा है और उसका कम्प्यूटरीकरण किया जा रहा है। सारे संसार में जो वैज्ञानिकता की तीव्र लहर चल रही है, शायद उसके प्रवाह से हम भी बच न पायें। परन्तु देश के समस्त बुद्धिजीवियों के सामने अपने शरीर की रक्षा के साथ-साथ अपनी आत्मि<sup>१</sup> चेतना की रक्षा का प्रश्न भी मुँह बाये खड़ा है।

हमारे प्रधानमन्त्री भारतीय परम्परा, संस्कृति और धर्म आदि

के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने की बात बार-बार कहते हैं। यह उनकी सदाशयता की निशानी है। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर इस सदाशयता का कितना मूल्य है, यह विचारणीय है। हमारे प्रधानमन्त्री संस्कृत और संस्कृति की बात तो करते हैं, परन्तु इन दोनों शब्दों में शायद भेद करना उनके लिए कठिन है। उनके भाषणों में जब-जब ये शब्द आते हैं, तब-तब इनके उच्चारण से ही पता लग जाता है कि उनके लिए ये शब्द जैसे पराये हों। संस्कृत भाषा और साहित्य के विभिन्न विषयों की परम्परागत शिक्षा पर ध्यान देने की प्रवृत्ति कांग्रेस के इतिहास में शुरू से ही दिखाई नहीं देती। जब मोतीलाल नेहरू कमेटी ने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी प्रसिद्ध रिपोर्ट तैयार की थी तब भी उसमें इसकी कोई चर्चा नहीं थी, और न ही बाद के किसी शिक्षा आयोग ने इस पर ध्यान दिया। हालाँकि एक के बाद एक शिक्षा आयोग निरन्तर बैठते रहे और विना किसी अपवाद के सभी शिक्षा आयोग इस बात पर बल देते रहे कि अंग्रेजों द्वारा चलाई गई शिक्षाप्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है। परन्तु समस्त शिक्षा आयोगों की वह रिपोर्ट केवल 'पर उपदेश' बनकर रह गई। सरकार भी कुछ इस ढंग से बात कहती रही जैसे कि शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन स्वयं उसको नहीं, किसी और को करना है।

शिक्षा आयोगों की रिपोर्ट आती गई और संस्कृत की परम्परागत शिक्षण-संस्थाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती गईं। संस्कृत की कुछ पाठ-शालाएँ देशी राज्यों में राजाओं के अनुदान से चला करती थीं। परन्तु जब राजा समाप्त हो गये तो उन संस्थाओं के जीवनस्तोत भी सुख गये। अब भी इस देश में लगभग ५ हजार संस्कृत पाठशालाएँ होंगी। उनकी पक्की इमारतें भी होंगी और उन सभी के पास शिक्षक भी होंगे। किन्तु केन्द्र और राज्य सरकारों की नीतिहीनता और दृष्टि-दोष ने इन पाठशालाओं को गौशाला के रूप में बदल दिया है।

निम्न मध्यम वर्ग के बच्चे इन पाठशालाओं में पढ़ते हैं और येन-केन-प्रकारेण यजमानी या पुरोहिताई करके अपनी जीविका चलाते हैं। यदि कोई किसी स्कूल या कालेज में संस्कृत के शिक्षक का पद पा लेता है तो वह उसका सबसे बड़ा अहोभाग्य है। इंजीनियरी या डाक्टरी या वकालत जैसे धनोपार्जक व्यवसायों के मुकाबले संस्कृत जैसी 'मृतभाषा' का आज सभ्य समाज के जीवन में क्या उपयोग रह गया है? पहले कभी संस्कृत पढ़ने वाले पण्डित कहलाते थे, अब वे पण्डित भी कहलाने के योग्य नहीं रहे। आज का अल्ट्रा मार्डन समाज उनको 'पढ़े-लिखे भिखारी' की श्रेणी में रखने से भी आज नहीं आता। जिस प्रकार इस आधुनिक समाज के लिए चोटी, जनेऊ और धोती उपहास के पात्र बन गये, वैसे ही संस्कृत का विद्यार्थी भी। इसका मूल कारण यह है कि आज का युग अर्थ-प्रधान हो गया है। इसलिए अर्थकरी विद्या को ही विद्या माना जाने लगा है, भले ही वह अर्थकरी विद्या देश और समाज में कितने ही अनर्थ की सृष्टि कर्यों न करे।

नई शिक्षानीति में संस्कृत की सर्वथा अवहेलना कर दी गई है। कहीं भी, किसी भी स्तर पर वह आवश्यक विषय नहीं रही। यद्यपि शिक्षा सम्बन्धी विभागों के मन्त्रियों के भाषणों में संस्कृत के प्रति आदर और पूजा के भाव की कमी नहीं होती। परन्तु यह आदर और पूजा भाव बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि मन्दिर में देव मूर्तियों के लिए होता है। हमारी जाति ने बड़ा आसान तरीका निकाल लिया है कि जब किसी महापुरुष के पद-चिह्नों पर चलने की अपने में न सामर्थ्य हो, न इच्छा, तो उस महापुरुष को परमात्मा का अवतार बनाकर मन्दिर में देवमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाए। इससे मनुष्य की आडम्बर-प्रियता और प्रदर्शन-प्रियता के स्वभाव की सन्तुष्टि हो जायेगी और समाज के अल्प-शिक्षित वर्ग के शोषण का भी एक बहाना मिल जायेगा। कुछ वैसा ही पूजा भाव संस्कृत के

प्रति भी दिखाया जा रहा है। अर्थात् हे देवी ! तुम हमारी मानसिक अचंना का अर्ध्य, पाद्य और नैवेद्य स्वीकार करती रहो, परन्तु हमारे दैनिक जीवन में और व्यवहार में कोई दखल न दो, क्योंकि वहाँ तो हमने अंग्रेजी देवी को प्रतिष्ठित कर रखा है। आज अंग्रेजी में मैट्रिक पास युवक को सरकारी कार्यालयों में आसानी से सर्विस मिल सकती है, परन्तु संस्कृत के शास्त्री और आचार्य परीक्षोत्तीर्ण विद्वान् को नहीं। क्योंकि प्रत्येक कदम पर अंग्रेजी की पूछ है, इसलिए जिनको अंग्रेजी नहीं आती वे भी अंग्रेजी जानने का ढोंग करते हैं। यदि किसी दिन ऐसी स्थिति आ जाय कि अंग्रेजी के बजाय संस्कृत से अधिक लाभ मिलने लगे तो हमारा यह अर्थ-लोलुप समाज जो महत्व आज अंग्रेजी को दे रहा है, वही महत्व संस्कृत को देने लग जायेगा। असल में न उसको संस्कृत से वास्ता है, न अंग्रेजी से वास्ता है, उसको केवल अर्थ से वास्ता है। यह मनोवृत्ति ही इस अर्थ-प्रधान युग की सबसे बड़ी देन है।

हम पाश्चात्य सभ्यता के सर्वग्रासी प्रभाव के प्रति चिन्ता भी व्यक्त करते हैं, पर अंग्रेजी के पीछे आँख बन्द करके भागते हुए चले जाते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब दूरदर्शन पर ग्रामीणों और देहाती किसानों से सम्बन्ध रखने वाले कार्यक्रमों के अन्दर भी अंग्रेजी की ही भरमार होती है। आजकल पर्यावरण के प्रदूषण का बड़ा शोर है, परन्तु उसके निवारण के लिए भी जिस धड़ल्ले से अंग्रेजी का आश्रय लिया जाता है, उससे ऐसा नहीं लगता कि ये कार्यक्रम भारतीय जनता से भी कोई वास्ता रखते होंगे। भारत के ऐसे कौन से किसान हैं जो अंग्रेजी जानने वाले हों और जिनके लिए आप खेती की नई वैज्ञानिक तकनीक अंग्रेजी में समझा रहे हों, यह हम नहीं जानते। इसे हम मानसिक विकृति न कहें तो क्या कहें ?

अब उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपने राज्य में त्रि-भाषा सूत्र के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू और पंजाबी इन तीन भाषाओं को लागू करने

का प्रस्ताव पेश किया है। विद्वानों की दृष्टि में उर्दू या पंजाबी केवल लिपि के भेद से ही अलग भाषा का अभिज्ञान करती हैं, जबकि वे लिपि की बाधा हटा देने पर हिन्दी भाषा के अन्तर्गत ही समाहित हो सकती हैं। इसमें भी मुख्य उद्देश्य यह लगता है कि अब तक हिन्दी पढ़ने वाले छात्र भूले-भटके संस्कृत का विषय ले लिया करते थे, परन्तु इस प्रकार के त्रिभाषा सूत्र से उसमें संस्कृत का कहीं स्थान नहीं रहेगा। वास्तविकता यह है कि एक अकेली संस्कृत भाषा के पढ़ने से भारतवर्ष की समस्त भाषाओं का मर्म पकड़ा जा सकता है। भारतीय भाषाओं का ही क्यों, हम तो कहेंगे समस्त भारोपीय (इण्डो-यूरोपियन) भाषा परिवार की जितनी भाषाएँ हैं, उन सब की तह तक पहुँचा जा सकता है। तभी तो संस्कृत समस्त भाषा-विज्ञान का आधार बनी हुई है। संसार का शायद ही कोई विश्वविद्यालय होगा, जहाँ संस्कृत के शिक्षण की व्यवस्था न हो।

कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि जिस तरह योग 'योगा' बनकर पश्चिम में अधिक पाँव फैलाता जा रहा है, कहीं संस्कृत के सम्बन्ध में भी ऐसा न हो। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जर्मनी का महान्-संस्कृत प्रेमी डा० लुडविग अपने जीवन-भर की सारी कमाई, जो लगभग ६० लाख रुपए के आस-पास बैठती है, संस्कृत के विकास और शोध कार्य के लिए डी० ए० बी० कालेज कमेटी को दान कर जाए? 'सेंट पीटर्सबर्ग लैक्सिकन' और 'मौनियर विलियम्स' द्वारा तैयार की गई 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरो' के महान् योगदान से भी कौन इन्कार कर सकता है? सच बात तो यह है कि संस्कृत मृतभाषा नहीं है, मृत वे लोग हैं जो इसे अपनी कहते तो हैं, पर इसे अपनाते नहीं हैं।

संस्कृत केवल भारत की थाती नहीं है, यह समस्त मानव-जाति की चिर-निधि है। संसार की सबसे प्राचीन भाषा में ही वह अद्भुत कोष सुरक्षित है जो मानव जाति के पूर्वज मनीषियों ने और ऋषि-

१४६ : असलियत क्या है

मुनियों ने हजारों सालों तक अपने चिन्तन और स्वाध्याय के परिणाम-स्वरूप एकत्रित किया था। अभी तक उस कोष का पूरी तरह आकलन भी नहीं हो पाया। हजारों हस्तलिखित ग्रन्थ अभी तक अनछुए पड़े हैं। आज भी सारे भारत की राष्ट्रीय एकता की जैसी सामर्थ्य इस भाषा में है, वैसी किसी और भाषा में नहीं। किसी भारतीय भाषा का कोई प्रतिष्ठित साहित्यकार ऐसा नहीं होगा, जो अपनी भाषा के साथ-साथ संस्कृत का भी अच्छा ज्ञाता न हो। यदि अपने पूर्वजों की इस महान् विरासत को हम सुरक्षित रखना चाहते हैं तो नई शिक्षानीति में इसके लिए एक राष्ट्रीय नीति निर्धारित करनी होगी और संस्कृत के पठन-पाठन को सही दिशा देनी होगी। अन्यथा अतीत के साथ वर्तमान को जोड़ने वाली उस महान् कड़ी को तोड़कर हम अपने भविष्य पर भी भारी कुठाराघात करेंगे।

[७ सितम्बर, १९८६]

## आक्रोश का नहीं, निष्ठा का दिवस

हमारे संविधान में ३४३वें अनुच्छेद में भारतीय संघ की राजभाषा के सम्बन्ध में कहा गया है : संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी । इसी अनुच्छेद के दूसरे खण्ड में कहा गया है कि १५ वर्ष की अवधि तक संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा और उक्त अवधि के दौरान राष्ट्रपति शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी-भाषा का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे । ५ वर्ष की समाप्ति पर राष्ट्रपति एक आयोग का गठन करेंगे, जिसमें अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग की व्यवस्था पर निर्णय किया जायेगा ।

इसके अतिरिक्त संविधान के ३५१वें अनुच्छेद में कहा गया है कि—संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाये, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे ।

संविधान के इस आदेश के अनुसार सन् १९५० में १४ सितम्बर के दिन हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया । उसके बाद १५ वर्ष की अवधि कभी की बीत चुकी, आयोग भी बना और वह अपनी रिपोर्ट भी दे चुका, परन्तु अभी तक हिन्दी अपने राजभाषा के आसन को प्राप्त नहीं कर सकी । वहाँ अभी तक सिंहासन पर अंग्रेजी ही आसीन है और उसके हटने के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते । बारम्बार नेतागण यह घोषणा करते

भी गर्व अनुभव करते हैं कि हिन्दी किसी पर लादी नहीं जायेगी और यदि किसी एक छोटे से राज्य ने भी विरोध किया तो हिन्दी को पूर्णतः राजभाषा के रूप में लागू नहीं किया जायेगा।

अगर कुछ लाख संख्या वाले एक छोटे से प्रदेश की सहमति की प्रतीक्षा में समस्त भारतीय राष्ट्र को उसकी इच्छा के आगे झुकने के लिए बाध्य किया जा सकता है तो संविधान में हिन्दी को राजभाषा बनाने की व्यवस्था करने की आवश्यकता ही क्या थी। संविधान को अगर लागू नहीं करना है तो संविधान का कोई अर्थ नहीं है। संविधान इसलिए बनाया जाता है कि उसे लागू किया जाय और वह राष्ट्र के सब नागरिकों पर समान रूप से लागू हो। आखिर प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता के कुछ तकाजे होते हैं। वे तकाजे संविधान के द्वारा अनुमोदित हों तो उनको लागू न करना एक तरह के अपराध की कोटि में आता है। जो शासक संविधान की रक्षा की शपथ लेकर कुर्सी पर आसीन होते हैं, वे स्वयं संविधान के निर्देशों का उल्लंघन करें तो कैसे वात बनेगी? सन् पचास से लेकर, जब संविधान लागू हुआ तब से अब तक, इन ३६ वर्षों में हिन्दी की स्थिति में कोई सुधार आया हो, या यह कहीं भी अंग्रेजी को अपदस्थ कर सकी हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। बल्कि उसके विपरीत दिखाई यह देता है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पूर्व अंग्रेजी का जितना बोलबाला था; स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद वह उससे कई गुना अधिक बढ़ गया है। पहले हम अंग्रेजों को दोष देते थे, अब हम किस को दोष देंगे? सिवाय अपने वर्तमान शासकों के।

यह ठीक है कि 'राजा कालस्य कारणम्' के अनुसार किसी भी राष्ट्र में विद्यमान काल का कारण राजा होता है। राजाओं की इच्छाओं के अनुसार ही प्रजा व्यवहार करती है और जब किसी चीज के प्रति राजा के मन में ही संकल्प और निष्ठा का अभाव हो तो प्रजा में उस चीज के प्रति निष्ठा कैसे पैदा होगी। कभी-कभी प्रजा-

तन्त्र की आड़ में शासक लोग यह बहाना बनाते हैं कि हम जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि हैं इसलिए हम जो कुछ कहते या करते हैं वही जनता की आवाज है और हमारी इच्छा के विरुद्ध चलना जन-तन्त्र की भावना के विरुद्ध है। यह तर्क कितना कमजोर है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि सत्ता प्राप्त करने के बाद आदमी प्रायः वही नहीं रहता जो सत्ता प्राप्त करने से पूर्व होता है। इसीलिए जनता के सामने वोट की भिक्षा माँगने वाले उम्मीदवार की विनम्र याचक छवि की तुलना सत्ता के मद से उन्मत्त, समस्त कायदे-कानूनों का उल्लंघन करके जनता पर अपनी इच्छा थोपने वाले, निरंकुशता की ओर अग्रसर, शासक से नहीं की जा सकती। वह जन का नहीं, केवल तन्त्र का प्रतिनिधि बनकर रह जाता है।

पर जरा ठहरिये। शासक के प्रति इस आक्रोश से क्या बनने वाला है? यह ठीक है कि शासक को रास्ते पर लाने की कुंजी जनता के हाथ में है। परन्तु जनता स्वयं इस तथ्य को समझे तो सही। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् हमारे जातीय स्वभाव में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है। सहस्राधिक वर्षों की राजनीतिक और मानसिक दासता ने हमारे जीवन में निराशा, पलायन और कर्म-विमुखता भर दी थी। स्वातन्त्र्य-संघर्ष के दिनों में हमने उस स्वभाव को तिलांजलि देकर स्वभाषा, स्व-साहित्य, स्व-संस्कृति और स्व-राज्य के प्रति नव-चेतना से अनुप्राणित होकर अपनी निष्ठा, अपने त्याग और अपने बलिदान का अद्भुत उदाहरण संसार के सामने प्रस्तुत किया। तब हम परमुखपेक्षी नहीं थे और किसी भी बात के लिए विदेशी शासन के प्रति उन्मुख होने में हमें अपमान और आत्म-ग्लानि अनुभव होती थी। हम प्रत्येक कार्य में उपक्रम का पराक्रम अपने हाथ में रखना चाहते थे। स्वाधीनता की चेतना का यहीं तो सबसे अधिक आवश्यक गुण था। उसी के द्वारा हमने स्वतन्त्रता भी प्राप्त की थी। पर स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही वह चेतना कहाँ लुप्त

हो गई ? अब हम हरेक काम में शासकों का मुँह देखते हैं और यह चाहते हैं कि अमुक काम शासन ही करे और हम कुछ न करें। हम नाम जनतन्त्र का लेते हैं, पर यह कैसा जनतन्त्र है जिसमें जन तो नदारद है, पर तन्त्र सर्वत्र हावी है। तन्त्र को बदलने वाला स्वाधीनता से पूर्व का वह जन आज कहाँ चला गया ? बहुत हुआ तो शासकों के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करके हम समझ लेते हैं कि हमने बहुत बड़ा तीर मार लिया और हमारे कर्तव्य की पूर्ति हो गई। यह पलायनवाद नहीं तो और क्या है ?

कभी ऋषि दयानन्द ने कहा था—“मेरी आँखें तो उस दिन को देखने को तरसती हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रत्येक भारत-वासी हिन्दी का व्यवहार करेगा।” ऋषि के ही स्वर में स्वर मिला कर महात्मा गांधी ने कहा था—“हिन्दी के बिना मुझे स्वराज्य की कल्पना ही अधूरी लगती है।” परन्तु स्वराज्य आने के बाद हिन्दी की दशा और दयनीय हुई। हम यह मान बैठे हैं कि हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाना सरकार का काम है। परन्तु यह याद रहे कि अपनी भाषा के जगन्नाथ के रथ को राजा के घोड़े नहीं खींचते सकते। इस पावन रथ को तो युगों से जनता के हाथ ही खींचते आये हैं। हिन्दी राजा की टकसाल में नहीं गढ़ी जा सकती। उसका फैसला कानूनों से नहीं होगा। हमारा अपना व्यवहार ही हिन्दी को उसका उचित स्थान दिला सकता है।

राजनैतिक दासता से मुक्त होने के पश्चात् विदेशी संस्कृति, विदेशी भाषा, विदेशी-साहित्य, विदेशी मतवाद, विदेशी पूँजी, विदेशी तकनीक और विदेशी चमक-दमक से हम इस तरह जकड़ लिये गये हैं कि हमारे अपने ‘स्व’ की गति और मति मन्द पड़ गई है और सर्वत्र ‘पर’ का प्रवेश हो गया है। भाषा को कुछ लोग अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। कहते हैं कि वह साधन है, साध्य नहीं। इस-लिए हिन्दी हो या अंग्रेजी हो, क्या फर्क पड़ता है। मतलब तो बात

कहने से है। परन्तु क्या अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्ति और साध्य वही हैं जो हिन्दी के हैं? नहीं अंग्रेजी, रूसी, अरबी, फ्रेंच, जर्मन और हिन्दू आदि भाषाओं के साध्य जलग हैं और अभिव्यक्ति के प्रकार भी पृथक हैं। हिन्दी मानवीय प्रेम और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भाषा है। वह उदात्त मानवीय संस्कृति का स्वर है।

भारतीय आधुनिक भाषाओं में हिन्दी ही सच्चे अर्थ में सदैव राष्ट्रीयता की वाहक है, क्योंकि वह निरन्तर भारत की एक समग्र चेतना को वाणी देने का प्रयास करती रही है। अन्य सभी भाषाओं में प्रदेश बोला है, बोलता है और कभी-कभी तो बड़े प्रभावशाली ढंग से बोलता है। परन्तु हिन्दी में शुरू से ही सदा देश बोलता रहा है। उसने कभी प्रदेश की उपेक्षा नहीं की, या उसे कभी हीन स्थान भी नहीं दिया। परन्तु उसके सामने हमेशा एक वृहत्तर आदर्श रहा है, जिसे वह निरन्तर मूर्त्त करती रही है। किसी समय वृहत्तर सांस्कृतिक इकाई की प्राण-भाषा संस्कृत थी। परन्तु कालान्तर में वह पूरी तरह सत्ता-संस्थान से जुड़ गई। हिन्दी के साथ ऐसा कभी नहीं हो पाया। वह संस्थान की नहीं, संस्थान के विरुद्ध विद्रोह की भाषा रहो है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जहाँ-जहाँ हिन्दी का विरोध होता रहा वहाँ-वहाँ भारत का भी विरोध होता रहा। जिन प्रदेशों में एक खण्ड-अस्मिता को समग्र राष्ट्रीयता और एक-भारतीय अस्मिता के ऊपर स्थान दिया जाता है, वहीं हिन्दी का भी विरोध होता है। अगर ऐसी एक राष्ट्रीय अस्मिता इस देश में नहीं पनप पाई तो यह एक आधुनिक राष्ट्र तो क्या बनेगा, विघटन की प्रवृत्तियों का क्रीड़ागार बनकर रह जायेगा। प्रश्न अंग्रेजी का या किसी क्षेत्र-विशेष का या क्षेत्रीय भाषा का नहीं है। प्रश्न उस दृष्टि का है, जिसकी आधारभूमि पर भविष्य में देश को खड़ा होना है। अंग्रेजी में सत्ता की गन्ध है, शोषण का विष है और उसमें भारत की सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने का वह सामर्थ्य नहीं है जो

१५२ : असलियत क्या है

हिन्दी में है। इसलिए १४ सितम्बर का दिन सरकार के प्रति आक्रोश का नहीं, निष्ठा का दिवस है, जबकि प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्य को पहचानना है। हिन्दी की वर्तमान दुर्दशा के लिए कोई और नहीं, हम और निष्ठाहीन केवल हम, ही जिम्मेवार हैं।

[ १४ सितम्बर, १९८६ ]

## इकहृत्तरवें जन्मदिवस का दर्द

शरीरयात्रा और लोकयात्रा के ७० वर्ष पार करके ७१वाँ जन्म दिवस चोर की तरह चुपके से कब आ गया, यह शायद पता भी नहीं लगता, यदि बन्धुवर अशोक कौशिक ने गत सप्ताह यह स्मरण न करा दिया होता। भाद्रपद शुक्ला नवमी को ऋषि दयानन्द का जन्म दिवस पड़ता है। इस बार स्वामी विद्यानन्द जी विदेह द्वारा संस्थापित वेद संस्थान ने ऋषि के जन्मदिवस के समारोह का श्रीगणेश करके एक नई परम्परा को जन्म दिया है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तथा धर्म के क्षेत्र में ऋषि दयानन्द का अवदान कितना महान है, संभवतः उस अवदान से अनुप्राणित वर्तमान पीढ़ी इसका अनुमान भी नहीं कर सकती। इस बार भाद्रपद शुक्ला नवमी १२ सितम्बर को पड़ी थी। उसके ४ दिन के बाद १६ सितम्बर (अंग्रेजी तारीख के हिसाब से) को अपना जन्मदिवस पड़ने की सूचना मात्र से मन में गर्व का अनुभव हो सकता है। परन्तु वह महज एक संयोग मात्र है। काल-चक्र अपनी गति से चलता है और मनुष्य अपनी मानसिक भावनाओं के साथ उसके तरह-तरह के अर्थ निकालने लग जाता है। परन्तु इस कालचक्र पर जिस अकाल पुरुष का नियन्त्रण है, उसके ब्रह्माण्ड सम्बन्धी विराट् विधान में क्षुद्र कीट के तुल्य मानव नाम के जन्तु की मानसिक भावना की क्या संगति है?

आदि शंकराचार्य का कथन है—

दिनमधि रजनी सायं प्रातः शिशिरबसन्तौ पुनरायातः ।

कालः ऋडति गच्छत्यायुः तदपि न मुच्यत्याशावायुः ॥

—दिन के बाद रात आती है और सवेरे के बाद सांझ। इसी प्रकार शिशिर और बसन्त का भी बारी-बारी से पुनरावर्तन होत

रहता है। यह सब काल का खेल है। धीरे-धीरे मनुष्य की आयु भी क्षीण होती जाती है, परन्तु मन से आशा की ललक नहीं छूटती। शायद इस ललक का नाम ही जीवन है। अगर यह आशा जीवन में न होती तो निराशा की विभीषिका से घिरा निरीह मानव कब आत्महत्या करके इस सारे खेल को समाप्त कर देता, यह कौन जाने।

अब से ७ वर्ष पहले जून, १९७६ में जब 'आर्य जगत्' का कार्यभार संभाला था तब कुछ मित्रों ने बधाई दी थी और अपनी ओर से शुभाशंसा व्यक्त की थी। परन्तु 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले और खरी बात कहने के आदी श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने उस समय एक पत्र में लिखा था—“जहाँ और सब लोग आपको बधाई दे रहे हैं, वहाँ मैं आपको बधाई नहीं देता। बधाई किस बात की दूँ? अभी तक आपने किया ही क्या है? क्या 'हिन्दुस्तान' जैसे इतने बड़े राष्ट्रीय समाचार-पत्र से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् 'आर्य जगत्' जैसे छोटे-से पत्र में आने के लिए आपको बधाई दी जा सकती है? मैं आपको बधाई नहीं देता। परन्तु हाँ, अब आपके एक आर्यसमाजी का पत्र का कार्यभार संभालने से आशा अवश्य बँधती है कि किसी दिन आर्यसमाज का भी एक पत्र होगा जिसकी ग्राहक संख्या हजारों में होगी और देश के गिनेचुने गणमान्य पत्रों में उसकी गणना होगी। जिस दिन ऐसा होगा, मैं उस दिन आपको बधाई दूँगा, अभी नहीं।”

यह पत्र नहीं, एक चुनौती थी। सहज भाव से उस चुनौती को स्वीकार करके हमने अपने आपको उसमें झोंक दिया। धीरे-धीरे परिणाम भी प्राप्त होने लगा। देखते-देखते 'आर्य जगत्' की ग्राहक संख्या बढ़ने लगी। पहले हजार हुई, फिर दो हजार हुई, फिर तीन हजार हुई और इस तरह करते-करते दिन-दुगुनी रात-चौगुनी छलांग लगाता हुआ यह पत्र सचमुच ही कई हजार की ग्राहक संख्या तक

पहुँच गया। आज यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि आर्य-समाजी क्षेत्रों में और गैर-आर्यसमाजी क्षेत्रों में सबसे अधिक बिकने वाला और सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला यदि कोई पत्र है तो वह 'आर्य जगत्' ही है। 'आर्य जगत्' ने अपना एक ऐसा पाठकवर्ग तैयार किया है जिसको बिना 'आर्य जगत्' पढ़े चैन नहीं पढ़ता। किसी पत्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यही होती है कि वह अपने पाठकों में एक प्यास और तड़प पैदा कर दे।

हमने उसको किस तरह केवल आर्यसमाज का बुलेटिन न रहने देकर हिन्दू-हितों के प्रबल प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया और वर्तमान राजनीतिक घटना-चक्र की दृष्टि से सही राष्ट्रवादी दृष्टिकोण पेश करके लगातार जनता को जगाने का प्रयत्न किया, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। विराट हिन्दू मंच के आन्दोलन से लेकर लन्दन में हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलन और उसके बाद अजमेर की कृषि निर्वाण शताब्दी तक 'आर्य जगत्' ने विभिन्न आन्दोलनों में जो अपना विनम्र योगदान दिया, वह जनता के सामने है और उसी का परिणाम यह है कि 'आर्य जगत्' दिन-प्रतिदिन अपनी प्रसार संख्या के नये आयाम छूता जा रहा है। जैसे आय बढ़ने पर आदमी का लालच भी बढ़ता जाता है, वैसे ही 'श्रेयसि तेन तृप्यते' की उकित के अनुसार हमारे असन्तोष की भी सीमा नहीं है।

'आर्य जगत्' के कई ऐसे प्रेमी पाठक हैं, जो स्वेच्छा से ही आये-दिन उसके नये-नये ग्राहक बनाकर भेजते रहते हैं। कुछ मिशनरी बन्धु तो उसके आजीवन सदस्यों की संख्या बढ़ाने में भी कोताही नहीं करते। इनमें से किसी को भी हम न कोई कमीशन देते हैं, न ही किसी प्रकार की अन्य कोई सुविधा। 'आर्य जगत्' का कोई ऐजेण्ट भी नहीं है। परन्तु 'आर्य जगत्' की उपयोगिता को समझने वाले प्रेमी पाठक स्वयं अपनी मानसिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उसकी प्रसार संख्या में योग देना अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसे निष्काम सेवकों की हम क्या

प्रशंसा करें। 'आर्य जगत्' आज जो कुछ है, ऐसे स्नेहीजनों की कृपा का ही फल है।

जब हम शेष दुनिया की ओर देखते हैं तो आत्मग्लानि से मन भर जाता है। विदेशों की बात छोड़ भी दें, तो भी अपने ही देश के दैनिक समाचार-पत्रों की प्रसार संख्या की बात जब सुनते हैं तो लज्जा से मस्तक झुक जाता है। कहाँ लाखों की संख्या में बिकने वाले और उससे भी कई गुना अधिक पाठकों द्वारा पढ़े जाने वाले दैनिक समाचार पत्र और कहाँ सबसे अधिक बिक्री का दम भरने वाला आर्यसमाज का यह छोटा-सा साप्ताहिक पत्र। दैनिक पत्र की तो बात ही छोड़िये। सन् ४५-४६ के आसपास आर्य जनता ने एक आन्दोलन चलाया था कि आर्यसमाज का एक दैनिक पत्र होना चाहिए। उसके लिए स्थान-स्थान पर धन-संग्रह भी किया गया। परिणामस्वरूप एक प्रेस तो स्थापित हो गया परन्तु आर्यसमाज का वह दैनिक पत्र आज तक आकाश-कुमुम की तरह एक स्वप्न ही बना हुआ है। कभी-कभी लोग सुझाव देते हैं कि 'आर्य जगत्' को ही दैनिक कर दिया जाय। पर आज अन्य दैनिक समाचार-पत्र और प्रिंटिंग टैक्नॉलॉजी जहाँ तक पहुँच चुके हैं, सारे आर्यसमाजी पत्र मिलकर भी उसकी सीमा तक का स्पर्श नहीं कर सकते। इसका कारण क्या है?

देश में प्रत्येक प्रान्त की अपनी अलग-अलग प्रतिनिधि सभाएँ हैं और अधिकांश प्रान्तीय सभाएँ अपने अलग-अलग साप्ताहिक या मासिक पत्र निकालती हैं। इनमें से किसी भी पत्र की ग्राहक संख्या हजार-दो-हजार से शायद ही अधिक हो। क्या यह नहीं हो सकता कि इन सब प्रान्तीय पत्रों के स्थान पर अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसा सर्व-समावेशी बड़ा पत्र निकाला जाय जो आर्यसमाज जैसी महान संस्था के गौरव के अनुरूप हो और जिसकी ग्राहक संख्या कम-से-कम ५० हजार हो। परन्तु आर्यसमाज के प्रदर्शनात्मक कार्यों, जलसों-जुलूसों और आन्दोलनों में लिप्त आर्य नेताओं को इस दिशा

में सोचने की फुर्सत नहीं है। वे यह नहीं समझते कि किसी बड़ी-से-बड़ी सभा में कही गई बात को सुनने वालों की संख्या केवल कुछ हजार श्रोताओं से अधिक के कानों तक नहीं पहुँच सकती, जबकि समाचार-पत्र के माध्यम से वही बात हजारों नहीं, बल्कि लाखों लोगों तक पहुँच सकती है। पत्र के सिवाय विपुल प्रचार का माध्यम और क्या हो सकता है?

शायद ही कोई आर्यसमाजी हो जो आर्यसमाज के और वैदिक धर्म के अधिकाधिक प्रचार को आकांक्षा न रखता हो। परन्तु उस प्रचार के लिए चिन्ता किसी को नहीं है। हमने अक्सर आर्यजनों को शिकायत करते हुए सुना है कि आकाशवाणी और दूरदर्शन पर आर्यसमाज का प्रचार क्यों नहीं होता। परन्तु सच बात तो यह है कि हम केवल शिकायत करने के आदी हो गये हैं। जो बात हमारे हाथ में नहीं है, उसके लिए तो हम कोलाहल करते हैं, पर जो बात पूरी तरह हमारे हाथ में है, उसके लिए हम कोई प्रयत्न नहीं करते। यदि आर्यजनता इस दिशा में सचेष्ट होती तो क्या कोई आर्यसमाज का ऐसा पत्र नहीं हो सकता था जिसकी गणना देश के गण्यमान्य पत्रों में की जा सकती? पाठकों से प्रार्थना है कि कृपया हमारी बात को अन्यथा न लें।

७१वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में कुछ मित्रों ने पुनः शुभकामना भेजी है और कई बुजुर्गों ने आशीर्वाद भी दिया है। कईयों का आशीर्वाद तो इतना अभिभूत करने वाला है कि मन करुणा से विग्लित होकर पूरी श्रद्धा के साथ उनके चरणों में प्रणिपात करना चाहता है। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उनके स्नेह और आशीर्वाद की यह पात्रता बनाये रखें।

परन्तु अपने जन्मदिवस के दर्द की बात कहना हम नहीं भूल सकते। हमने कभी घोषणा की थी कि अमुक समय की सीमा तक हम 'आर्य जगत्' की ग्राहक संख्या २५ हजार तक पहुँचा देंगे। पाठकगण

## १५८ : असलियत क्या है

क्षमा करें। हमारे इस वचन के पूरा न होने में जितना बड़ा कारण हमारी अपनी कमी हो सकती है, उससे बड़ा कारण है आर्य जनता का आलस्य। स्वामी विद्यानन्द जी महाराज ! अभी तक आपकी बधाई पाने की पात्रता प्राप्त नहीं हुई है। आपके आशीर्वाद के साथ हम आर्य जनता का भी आशीर्वाद चाहते हैं और उस दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिस दिन हम उस सीमा को पार कर जायेंगे। पर अभी दिल्ली दूर है। यही दर्द है जिसकी दवा केवल आर्य जनता के पास है।

[२१ सितम्बर, १९८६]

## वैष्णव देवी का अधिग्रहण

भारत के धार्मिक इतिहास में मन्दिरों का बहुत महत्त्व रहा है। तोर्थ और मन्दिर हिन्दू संस्कृति के ऐसे अंग बन गये हैं कि वे हिन्दुत्व का पर्याय ही समझे जाते हैं। वे करोड़ों लोगों की श्रद्धा के केन्द्र हैं। इस श्रद्धा को अन्ध श्रद्धा भी कह सकते हैं। परन्तु जिसे हम हिन्दुत्व कहते हैं, उसका सारा आधार इसी प्रकार की अन्ध श्रद्धा और अन्ध-विश्वासों पर निर्भर है।

आजादी के बाद जिन दो मन्दिरों की सबसे अधिक लोकप्रियता बढ़ी है, उनमें शायद दक्षिण भारत में तिरुपति और उत्तर भारत में वैष्णव देवी प्रमुख हैं। लाखों लोग इन दोनों स्थानों की यात्रा के लिए जाते हैं और इन दोनों स्थानों पर करोड़ों रूपए का चढ़ावा चढ़ता है। जब से तिरुपति में भक्तों द्वारों चढ़ावे पर नियन्त्रण हुआ है, तब से मन्दिर की ओर से पर्यटकों की सुविधा के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं। धर्मशालाएँ बनी हैं, गैस्ट-हाउस बने हैं, सड़कें बनी हैं और बस-सर्विस भी शुरू की गई है। इन सब सुविधाओं से भक्त-यात्रियों की सुविधा और अधिक बढ़ी है। तिरुपति-ट्रस्ट की ओर से शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया गया है और प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के प्रकाशन में भी उसका सहयोग है।

उसके मुकाबले में, वैष्णव देवी की यात्रा करने वाले जानते हैं कि वहाँ इस मन्दिर के बारीदारों की ओर से यात्रियों की सुविधा के लिए एक पेसा खर्च नहीं किया जाता। डॉ० कर्णसिंह द्वारा स्थापित धर्मार्थ ट्रस्ट ने इस दिशा में यद्यपि संराहनीय काम किया है, परन्तु उस श्रेय में बारीदारों का कोई हिस्सा नहीं है। कहा जाता है कि

वैष्णव देवी में हर साल लगभग १० लाख यात्री आते हैं, लगभग १५ करोड़ रुपया चढ़ावा चढ़ता है और उस सबको अपने पास रखने वाले केवल तीन वारीदार परिवार हैं। इन तीनों परिवारों की बारी-बारी से वैष्णव देवी की मूर्ति पर द-द घण्टे की ड्यूटी लगती है। यात्रियों का ताँता चौबीस घण्टे चलता रहता है और जिस परिवार वाले की ड्यूटी में जितना पैसा आता है, वह सब उस परिवार वाले की मिल्कियत बन जाता है। यह भी कहा जाता है कि उन तीन परिवारों का विस्तार होते-होते उनकी सदस्य संख्या अब १०-१२ हजार तक पहुँच गई है और चढ़ावे के इस पैसे से ही उन सबका पालन-पोषण होता है।

डॉ० कर्णसिंह द्वारा स्थापित धर्मार्थ-ट्रस्ट का बोर्ड मन्दिर के पास लगा रहता है। दान-दाताओं की राशि जमा करने के लिए बही-खाता लिए मुश्ही जी भी बैठे रहते हैं। परन्तु वहाँ के पण्डित-पुरोहित आने वाले सब भक्तों को केवल मन्दिर की मूर्ति पर ही चढ़ावा चढ़ाने के लिए प्रेरित करते हैं। कुछ बिले समझदार सम्पन्न लोग ट्रस्ट वालों को भी दान देते हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम होती है। एक तरह से स्थिति यह है कि खर्च करने का सारा काम धर्मार्थ ट्रस्ट के जिम्मे और चढ़ावे को अपनी जेब में डालने का काम उन वारीदारों के जिम्मे है। इस मन्दिर को पूरी तरह ट्रस्ट के नियन्त्रण में लेने के लिए डॉ० कर्णसिंह ने अदालत में मुकदमा भी लड़ा, पर वे उसमें हार गये। अदालत ने यही फैसला दिया कि डॉ० कर्णसिंह के पूर्वजों ने यह मन्दिर और उसकी भूमि जिन वारीदारों को दान में दे दी, अब वह धर्मार्थ ट्रस्ट को वापिस नहीं मिल सकती। परन्तु धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा खर्च करने की भी एक सीमा है। इस ट्रस्ट ने एक ही संकरे रास्ते से गुफा में जाने वाले यात्रियों की कठिनाई दूर करने के लिए काफी पैसा खर्च करके दूसरा रास्ता भी बनाया है, जिससे यह सुविधा हो गई है कि भक्त-गण एक रास्ते से अन्दर जाते हैं और दूसरे रास्ते से

बाहर निकलते हैं। अन्दर जाने वाला रास्ता इतना संकीर्ण है कि यात्री को झुककर और टेढ़े होकर अन्दर घुसना पड़ता है, जबकि बाहर निकलने वाला रास्ता कम-से-कम इतना चौड़ा अवश्य है कि उसमें आदमी आराम से खड़ा होकर निकल सकता है। पहले आने-जाने का एक ही रास्ता होने से कई घट्टों में भी बहुत थोड़े से दर्शनार्थी भुगत सकते थे।

धर्मर्थ ट्रस्ट ने अपनी ओर से बैष्णव देवी मन्दिर के पास और अधकुंवरी में धर्मज्ञालाओं की व्यवस्था की है। रात को वहाँ ठहरने वाले यात्रियों के लिए कम्बलों की व्यवस्था भी है। चढ़ने के दृगम मार्ग पर जहाँ-जहाँ खतरा है वहाँ लोहे की रेलिंग लगाई है और उस रेलिंग पर प्रति १० फुट पर रेलिंग के लिए दान देने वालों के नाम की 'पट्टिका' भी लगी है। परन्तु सारा रास्ता न केवल ऊबड़-खाबड़ है, बल्कि जगह-जगह नुकीले पत्थर निकले हुए हैं। दस मील के इस लम्बे रास्ते पर लगातार मिट्टी डालकर यात्रियों के लिए उसे सुविधाजनक बनाये रखना भी कोई कम खर्चिला काम नहीं है। यह कौन करे? इसके अलावा जहाँ इतनी बड़ी संख्या में यात्री जाते हों, वहाँ सफाई की समुचित व्यवस्था करना भी आसान काम नहीं। वह भी कौन करे? बारीदार तो कुछ करेंगे नहीं, वे तो केवल चढ़ावे के पैसे को खाने के लिए और ऐश करने के लिए हैं और धर्मर्थ ट्रस्ट के पास जम्मू-कश्मीर राज्य के जितने अन्य मन्दिर हैं, उनकी देखभाल के बाद इतना पैसा नहीं बचता कि बैष्णव देवी के यात्रियों के लिए सुविधाओं का विस्तार कर सके।

जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल श्री जगमोहन ने राज्य में अनेक ऐसे साहसिक कदम उठाये हैं, जिनकी प्रशंसा उनके विरोधी भी करते हैं। उसी तरह का साहसिक कदम उन्होंने इस मन्दिर के अधिग्रहण के सम्बन्ध में भी उठाया है। बिना सरकारी कानून के यह समस्या सुलझ नहीं सकती थी। अब तक आये अन्य मुख्यमन्त्री मुसलमान

होने के कारण हिन्दू समाज के इस श्रद्धा-केन्द्र को छूने से घबराते थे। डॉ० कर्णसिंह मुकहमा हार ही गये। फिर सरकारी कानून के द्वारा ही उसपर नियन्त्रण स्थापित हो सकता था। और वह साहसिक कदम श्री जगमोहन ने उठा डाला। इसी ३१ अगस्त को उन्होंने वहाँ पुलिस को भेजकर मन्दिर का अधिग्रहण कर लिया और इस सारे क्षेत्र को विकसित करने की लम्बी-बौड़ी योजना घोषित कर दी। अब इस तीर्थ को साफ-सुथरा बनाने के लिए युद्ध-स्तर पर काम चल रहा है और एक महीने के भीतर ४० लाख रुपये से अधिक खर्च किया जा चुका है। प्रशासन की योजना है कि इस पूरे इलाके को मर्करी ट्यूब लाईट से शोभित कर दिया जाए। सड़कों की व्यवस्था ठीक हो जाए। सीवर की व्यवस्था सुधारी जाय और एक लाख गैलन पानी को स्टोर करने वाली एक बड़ी टंकी बनाई जाए। जम्मू से वैष्णव देवी तक आने वाले और पैसा खर्च कर सकने वाले लोगों के लिए हैलीकॉप्टर की व्यवस्था की जाए। कटरा से वैष्णव देवी के मन्दिर तक एक रज्जु-मार्ग बनाया जाए और इस पूरे क्षेत्र को एक पर्यटन स्थल के रूप में विकसित किया जाय।

श्रद्धालु-जनों में श्री जगमोहन के इस साहसिक कदम की आलोचना भी कम नहीं हुई। परन्तु हम समझते हैं कि वर्तमान युग की आवश्यकताओं को देखते हुए यह कदम अत्यन्त आवश्यक था। मूर्तिपूजा और मन्दिर की संस्कृति के साथ शुरू से ही दुकानदारी की भावना जुड़ी रही है। इसीलिए पण्डे-पुरोहित भोले-भाले यात्रियों को तरह-तरह के हथकण्डों से ठगने में ही अपनी चरितार्थता मानते हैं। यह ठीक है कि किसी जमाने में, जब आवागमन के साधन नहीं थे, तब दुर्गम तीर्थों की यात्रा करने वाले भक्तगण की सहायता करने और उनकी सेवा-सुश्रुषा को अपना कर्तव्य मानने वाले इन पण्डे-पुरोहितों के पूर्वजों ने ऐसी व्यवस्था जुटाई थी, जो पर्यटन स्थलों के पांच सितारा होटल नहीं जुटा सकते। परन्तु अब वह बात

समाप्त हो चुकी है। अब तो सब तीर्थों में धर्मशालाएँ भी तरह-तरह से पैसा वसूल करती हैं। अब सिवाय खुले आसमान के नीचे रात विताने के कहीं भी निःशुल्क आवास-व्यवस्था दिखाई नहीं देती।

जहाँ बड़ी मात्रा में जन-समुदाय एकत्रित होता हो, वहाँ लोगों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना और अधिक भीड़ के कारण संक्रामक रोगों को फैलने से रोकने के लिए समुचित कार्रवाई करना सरकार का कर्तव्य है। इस दृष्टि से देखा जाय तो श्री जगमोहन के इस साहसिक कदम की आलोचना करने के बजाय उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। अपने आपको समाजवादी कहने वाली सरकार, समाज की निरन्तर उपेक्षा करके, लोगों के अन्धविश्वास का अन्धाधुन्ध फायदा उठाकर केवल पेट भरने वाली प्रवृत्ति को कैसे सहन कर सकती है? इसलिए इन तीर्थस्थानों में यात्रियों को उल्टे उस्तरे मूँढ़ने के लिए केवल पण्डे-पुरोहितों की दया पर छोड़ देना किसी भी अवस्था में उचित नहीं कहा जा सकता। वैयक्तिक के बजाय सामाजिक हित को प्रमुखता मिलनी ही चाहिए।

परन्तु हमारी शिकायत और है। और वह शिकायत यह है कि इस प्रकार हिन्दू जनता के श्रद्धा-केन्द्र तीर्थों और मन्दिरों का ही सरकारी अधिग्रहण क्यों? ईसाइयों, मुसलमानों और सिखों के धर्मस्थानों का अधिग्रहण क्यों नहीं? क्या वहाँ धन का दुरुपयोग नहीं होता? प्रतिवर्ष स्वर्ण मन्दिर में चढ़ावे के रूप में आने वाला दस करोड़ रुपया ही क्या अकालियों की देशद्रोही राजनीति का आधार नहीं है? इसी प्रकार की बात अजमेर की दरगाह तथा मुसलमानों के और ईसाइयों के धार्मिक स्थलों के बारे में भी कही जा सकती है। एक राष्ट्र में विभिन्न वर्गों में इस प्रकार भेदभाव करना राष्ट्रीयता की दृष्टि से घातक है। एक ओर समान नागरिकता की संहिता बनाने पर चर्चा चल रही है और दूसरी ओर तथाकथित अल्पसंख्यकों

१६४ : असलियत क्या है

को सब तरह की छूट दी जा रही है और बहुसंख्यकों की भावनाओं को कुचला जा रहा है। हम श्री जगमोहन के कदम की तो प्रशंसा करते हैं, पर भारत सरकार से यह आशा करते हैं कि वह अल्प-संख्यकों के धर्मस्थानों पर होने वाले धन के दुरुपयोग पर भी नियन्त्रण करेगी।

[ ५ अक्टूबर, १९८६ ]

## आर्य संस्कृति के प्रतीक—श्रीराम

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम से बढ़कर आर्य संस्कृति का प्रतीक तुलन्भ है। राम आर्यवर्त और भारतीय इतिहास के प्रतिनिधि के रूप में अजस्त्र प्रेरणा स्रोत हैं। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं के जो आदर्श हो सकते हैं, वे भी सर्वोत्तम रूप से मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम में ही घटित होते हैं। राम आदर्श राजा हैं, राम आदर्श पुत्र हैं, राम आदर्श पति हैं, राम आदर्श भाई हैं और राम आदर्श स्वामी हैं। वैदिक धर्म और ऋषियों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं का जितने सुन्दर रूप से राम ने पालन किया, उतने सुन्दर रूप से कदाचित् अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं किया। इसीलिए राम को ‘रामो विग्रहवान् धर्मः’ कहकर सम्बोधित किया गया है। वेद का आदेश है ‘अनुव्रतः पितुः पुत्रो, माता भवतु संभन्नाः’ (पुत्र पिता के व्रत का पालन करने वाला हो और माता के मन की इच्छाएँ पूरी करने वाला हो) अथवा ‘मा आता आतरं द्विक्षन मा स्वसारमुत्स्वसा’ (भाई-भाई से द्वेष न करे और बहिन-बहिन से द्वेष न करे)। इस प्रकार परिवार में सुख और शान्ति के लिए नैतिक आदर्शों की स्थापना करने वाले जितने भी आदेश वेद में हैं, उन सबका सर्वोत्तम ढंग से पालन करने वाले महापुरुष भी कोई हैं, तो श्रीराम ही हैं।

इसीलिए तो हिमालय की कन्दराओं से लेकर विन्ध्य और सहयाद्रि की अधित्यकाओं तक और जन्हुतनया भागीरथी गंगा से लेकर दक्षिण की कावेरी तक, सर्वत्र राम-नाम की गूँज है। पंजाब, सिन्ध, कन्याकुमारी और रामेश्वरम् तक, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण के किसी भी प्रदेश में चले जाओ, सर्वत्र राम की स्मृतिर्यां बिखरी पड़ी हैं। भले ही तक्षशिला, लवपुर (लाहौर), कुशपुर (कसूर)

पाकिस्तान में चले गए हों, लेकिन वे स्मारक तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के और उनके वंशजों के ही हैं। कवियों और सन्तों ने राम-कथा को सम्प्रदायातीत बना दिया है। इसीलिए बौद्धों और जैनों में भी राम-कथा का समावेश है। गोंड-भील आदि शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों में राम-कथा की धूम है। स्याम, अनाम, जावा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया और मलयेशिया में भी रामायण और राम की कथा पहुँची हुई है। मैक्सिको में राम-सीता के नाम से उत्सव मनाया जाता है और राम के ही नाम से मिस्र के राजाओं के नाम रखे जाते हैं। बैंकाक में रामायण सम्मेलन होता है और मौरिशस में गुटका तुलसी रामायण की एक लाख प्रतियाँ मंगाकर घर-घर पहुँचाई जाती हैं। इस प्रकार सारे संसार के इतिहास में अन्य शायद ही कोई ऐसा महापुरुष हो जो इतने व्यापक रूप से चर्चित हो।

राम का कुल 'रघुकुल' कहलाता है। आदिकालीन मनु के सात पुत्र थे जिनकी एक शाखा में भगीरथ, अंशुमान, दिलीप जौर रघु आदि हुए और दूसरी शाखा में सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि। वैवस्वत मनु के पश्चात्, इस सूर्यवंश की ३६ पीढ़ियों के पश्चात् राम अयोध्या में जन्म लेते हैं। राम के विषय में उनके गुणों का वर्णन करते हुए महर्षि बाल्मीकि लिखते हैं :—

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ।

वेद वेदांग तत्वज्ञो धनुवेदे च निष्ठितः ॥

सर्वशास्त्रार्थ तत्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।

सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥

सर्वदाभिगतः सदिभः समुद्र इव सिन्धुभिः ।

आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।

समुद्र इव गाम्भीर्य धैर्येण हिमवानिव ॥

—व जीवलोक के रक्षक हैं, धर्म का पालन करने वाले हैं, वे द-

वेदांग के तत्व को जानने वाले हैं, धनुर्वेद में पारंगत हैं, सब शास्त्रों के अर्थों के मर्मज्ञ हैं, स्मृतिशाली और प्रतिभाशाली हैं, सब लोगों में प्रिय हैं, साधु स्वभाव हैं, अपनी आत्मा में कभी दीनता का समावेश नहीं होने देते, कार्यकुशल हैं, जिस तरह नदियाँ समुद्र के पास जाती हैं उसी तरह वे सज्जनों के लिए सदा सुलभ हैं, वे आर्य हैं, सब पर सम दृष्टि रखते हैं, हमेशा प्रसन्नचित्त रहते हैं, गम्भीरता में समुद्र के समान और धैर्य में हिमालय के समान, कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले, श्रीराम सब प्रकार के गुणों से समन्वित हैं।

बाल्मीकि रामायण में और काफी विस्तार से राम के गुणों का वर्णन है, हमने यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र कराया है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के युग में तीन संस्कृतियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—एक, आर्य संस्कृति, दूसरी, वानर संस्कृति और तीसरी, राक्षस संस्कृति । सम्भवतः आदिकाल में एक ही मानव वंश रहा होगा, परन्तु उसके बाद कालक्रम से उनके आचार-विचार और रहन-सहन में यत्किंचित् परिवर्तन आता गया और वे विभिन्न संस्कृतियों के पोषक बन गये । खास बात यह है कि ये तीनों संस्कृतियाँ वैदिक धर्मावलम्बी हैं । तीनों में वेदों के अध्ययन की परम्परा है । इन तीनों संस्कृतियों के तीन प्रमुख केन्द्र हैं—आर्य संस्कृति का केन्द्र अयोध्या, वानर-संस्कृति का केन्द्र किञ्जिकन्धा और राक्षस-संस्कृति का केन्द्र लंका । वानरों को उनकी पूँछ आदि की कल्पना करके पौराणिक जगत् ने अपने कल्पना-विलास का ही परिचय दिया है, यथार्थ का नहीं, जबकि वानर भी अयोध्या के निवासियों की तरह वैसे ही मनुष्य हैं जैसे कि आर्य लोग थे । ‘वानर’ का अर्थ बन्दर नहीं, बल्कि ‘बन में रहने वाला है’ । ये वन्य जातियाँ थीं जो वनों और पहाड़ों में रहती थीं । आज भी भारत का काफी बड़ा वर्ग जंगलों और पहाड़ों में रहता है । अम से हम उनको पाश्चात्य लेखकों के अनुकरण पर आदिवासी कहने लगे हैं जबकि सही तौर

## १६८ : असलियत क्या है

से उनको 'वनवासी' या 'गिरिजन' कहा जाना चाहिए। वनवासी और 'वानर' का एक ही अर्थ है। जिस प्रकार वानर बन्दर नहीं थे, उसी प्रकार राक्षस भी अमनुष्य नहीं थे, वे भी अयोध्या के निवासी आर्यजनों के समान ही सामान्य मनुष्य मात्र थे। इन तीनों की संस्कृतियों में अन्तर था।

जहाँ तक भौतिक समृद्धि का प्रश्न है, वाल्मीकि रामायण के कथनानुसार न किञ्चिन्द्धा अयोध्या से कम थी और न ही लंका। बल्कि लंका का तो भौतिक समृद्धि के कारण नाम ही 'सोने की लंका' पड़ गया। भौतिक समृद्धि में नहीं, लेकिन आचार-विचार और संस्कारों में स्पष्ट अन्तर है। 'वानर' और 'राक्षस' दोनों मदिरापायी हैं, जबकि—अयोध्या में मदिरापान का वर्णन नहीं मिलता। बाली और सुग्रीव का आपसी श्रात्-कलह 'वानर' संस्कृति का ही प्रतीक हो सकता है, अयोध्या में इस प्रकार के श्रात्-कलह की कल्पना हम नहीं कर सकते। बाली द्वारा सुग्रीव की पत्नी का अपहरण और बाली की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी तारा का सुग्रीव द्वारा वरण वानर-संस्कृति की ही विशेषता कही जाएगी, आर्य-संस्कृति की नहीं। जहाँ तक राक्षसों का प्रश्न है, वे तो निरे विषयलम्पट थे। विभीषण और रावण के कलह के रूप में श्रात्-कलह भी वहाँ विद्यमान है और रावण द्वारा पराई स्त्रियों के अपहरण की भी अनेक घटनाएँ हैं।

इन तीनों राज्यों में राजतन्त्र की प्रथा है। तीनों जगह मन्त्री परिषद् है। परन्तु रावण अपनी मन्त्री-परिषद् की सलाह मानने की बजाय स्वेच्छाचारिता की ओर अग्रसर है। इसी स्वेच्छाचारिता ने विभीषण अलग कर दिया। किञ्चिन्द्धा और लंका में भी वेदाध्ययन के साथ ब्राह्मणों का अस्तित्व है। किन्तु आर्य-संस्कृति, वानर-संस्कृति और राक्षस संस्कृति में सबसे बड़ा अन्तर यह है—आर्यतंर संस्कृतियों में आश्रमों की परम्परा नहीं मिलती। आर्य राज्य में सर्वत्र ऋषियों के आश्रम हैं, उनमें वेदाध्ययन के साथ-साथ आर्य संस्कृति के प्रचार

की योजनाओं पर भी विचार होता है। ऋषि लोग तप और स्वाध्याय में निरत रहकर यज्ञ-याग में लगे रहते हैं, जबकि राक्षस लोग उनके यज्ञों में विघ्न डालने को ही अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण समझते हैं। आर्यं लोग स्वभाव से अहिंसा-प्रिय हैं, परन्तु राक्षसों की ज्यादती के कारण अन्त में स्वयं ऋषि लोग ही अयोध्या के आर्यं राज्य के राज-कुमार को शस्त्र-ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं और लंका-विजय की योजना बनाते हैं।

इस प्रकार वानर और राक्षस संस्कृति के मुकाबले में आर्यं संस्कृति की विशेषता को देखें तो उसका सार यह निकलता है कि आर्यं लोग तप-त्याग और वैदिक विद्यान के अनुसार वर्ण और आश्रमों की मर्यादा का पालन करते हुए अपने जीवन को निरन्तर उन्नत और उन्नततर बनाते हुए आदर्श बनने का प्रयत्न करते हैं जबकि वानर और राक्षसों में जीवन के नैतिक आदर्शों का वैसा व्यवहार नहीं है। राक्षस तो निश्चित रूप से 'खाओ-पियो मौज उड़ाओ' के भोगवाद की संस्कृति के। जबकि वानर संस्कृति इन दोनों के बीच में विद्यमान है। इसीलिए वानर, आर्यों का साथ दे सके। आर्यों के त्यागवाद में मर्यादित भोग-वाद है और जीवन में धर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, जबकि राक्षसों का भोग-वाद निर्मर्यादि है। उसमें कहीं त्यागवाद का लेश नहीं है, और वे हिंसा के माध्यम से अपने राज्य का विस्तार करना चाहते हैं, जबकि आर्यं संस्कृति के अनुयायी अहिंसा का हथियार विफल हो जाने पर ही हिंसा का आश्रय लेते हैं, और तब दुष्ट को दण्ड देकर ही छोड़ते हैं। आर्यों की संस्कृति में शस्त्र और शास्त्र का समन्वय है, राक्षस संस्कृति में शस्त्र पर दारोमादर है और वानर संस्कृति आधी इधर, बाधी उधर है। राम आर्यं संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं।

## कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

डॉ० कृष्णबल्लभ पालीवाल आर्यसमाज के अत्यन्त निष्ठावान् और कर्मठ विद्वान् हैं। साथ ही विज्ञान के स्नातक होने के कारण तर्क-प्रवण और प्रगतिशील विचारों से भी ओत-प्रोत हैं। पिछले दिनों उन्होंने एक पत्र लिखकर कुछ प्रश्नों का उत्तर सार्वजनिक रूप से चाहा है। उनके प्रश्न इस प्रकार हैं—

१. आज समाज में शूद्रों के विषय में बहुत भ्रान्ति है। कृपया अवगत करायें कि शूद्रों के क्या लक्षण हैं?
२. वेदादि शास्त्रों में क्या उन्हें अछूत कहा है और यदि नहीं तो सन्दर्भ देने की कृपा करें।
३. आजकल तो अनेक अन्य वर्णों की सन्तानें शूद्रों से भी बदतर हैं और शूद्रों की सन्तानें ब्राह्मणों से भी उत्तम हैं, तो इस व्यवस्था को बदलने के लिए क्या रचनात्मक रवैया अपनाया जावे।

४. क्या हम आज के युग में वर्ण-व्यवस्था को त्याग नहीं सकते हैं जिससे अनेक बुराइयों का जन्म हो रहा है एवं सामाजिक व राजनीतिक समस्याएँ पैदा हो रही हैं। आर्यसमाज घोषित करे कि हम वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते हैं।

अपनी स्वल्पबुद्धि के अनुसार यथासम्भव हम इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न कर रहे हैं—

१. इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल शूद्रों के विषय में बहुत भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण न केवल धार्मिक और सामाजिक नेता हैं, प्रत्युत राजनीतिक नेता भी हैं और इन तीनों वर्गों के नेताओं ने अपने निहित स्वार्थों के कारण शूद्रों

के सम्बन्ध में जान-बूझकर भ्रान्ति उत्पन्न की है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जबसे तथाकथित शूद्रों को 'हरिजन' नाम दिया गया, या उनको परिगणित या अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया, तब से स्वार्थ-प्रेरित इन दलित बन्धुओं ने स्वयं भी अपने बारे में भ्रान्ति को और आगे बढ़ाया है। मुख्य कारण केवल स्वार्थ है, सत्य या न्याय नहीं। जहाँ तक शूद्र के लक्षणों का प्रश्न है, उनके लिए मनु स्मृति आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिये जा सकते हैं। परन्तु आजकल के अल्प-शिक्षित और स्वार्थ-ग्रस्त लोग उन श्लोकों का भी गलत अर्थ लगा सकते हैं। इसलिए हम कोई शास्त्रीय उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

परन्तु मुख्य बात यह है कि संसार के चार शत्रु हैं—अज्ञान, अन्याय, अभाव और आलस्य। संसार से अज्ञान को दूर करने का व्रत लेने वाला, स्वयं ज्ञानवान् बनकर समाज को अपने ज्ञान का लाभ पहुँचाने वाला व्यक्ति ब्राह्मण है। संसार में जहाँ कहीं भी अन्याय हो, उसके निराकरण के लिए अन्यायकारी बलवान् से भी सर्वत्र टक्कर लेने वाला क्षत्रिय कहलाता है। अन्न, वस्त्र तथा अन्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके संसार के अभाव और दारिद्र्य के कष्ट का निवारण करने वाला व्यक्ति वैश्य है और मानव मात्र के शरीरस्थ महान् शत्रु आलस्य को अपने श्रम से दूर करने वाला श्रमिक शूद्र है। वास्तव में तो पुरानी संस्कार-जन्य रूढ़ियों से ग्रस्त न होते हुए शूद्र के स्थान पर 'श्रमिक' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। श्रमिक किसी भी दृष्टि से, किसी भी देश में, अवहेलना या अपमान का पात्र नहीं है। बल्कि रूस जैसे साम्यवादी देश में तो सत्ता ही श्रमिकों के हाथ में है। इस दृष्टि से किसी भी समाज के लिए श्रमजीवी (अर्थात्

शूद्र) उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना बुद्धिजीवी (अर्थात् ब्राह्मण), या बलजीवी (अर्थात् क्षत्रिय), अथवा धनजीवी (अर्थात् वैश्य)। ये चारों अपनी-अपनी स्तरीय और अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने व्यवसाय का वरण करते हैं और अपने-अपने ढंग से समाज की सेवा करते हैं। वरण किए जाने के कारण ही 'वर्ण' शब्द का निर्माण हुआ है—  
 'वर्णोऽवृणोते:'

२. वेदादि शास्त्रों में किसी को भी अछूत नहीं बताया गया है। ऊपर जैसे हमने व्यवसाय-परक वर्णों की व्यवस्था का उल्लेख किया है, उसमें छूतछात का सवाल ही पैदा नहीं होता। उक्त चारों वर्ण समाज के आवश्यक अंग हैं और अपने-अपने कर्म में निरत रहते हुए ही अपने जीवन की सफलता प्राप्त करते हैं। उनको अपने से हीन समझकर अस्पृश्य बताने वाले वे पोंगापन्थी लोग हैं जो न तो वेदादि शास्त्रों को जानते हैं और स्वयं विद्या से विहीन होने के कारण केवल अपने जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए ही पिछड़े वर्गों में जन्म लेने वाले लोगों को अछूत बताते हैं। जन्म का अभिमान मिथ्या है। आदमी की असली पहचान उसके कर्म से होती है। स्वयं अपनी विद्याहीनता और कर्महीनता का जैसे प्रतिशोध लेने के लिए ही, अपने आपको औरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए, समाज के दलित और धन-हीन और अन्याय के शिकार लोगों को वे अछूत बताने लगते हैं। इसी अपमान का यह परिणाम है कि हिन्दू जाति के अनेक लाल धर्मान्तरण करके ईसाई या मुसलमान बनने के लिए प्रवृत्त होते हैं। जिन अछूतों को हिन्दू रहते कुएँ और बावड़ी से पानी नहीं भरने दिया जाता, मुसलमान और ईसाई बनकर हिन्दुओं की छाती पर मूँग दलते हुए उसी कुएँ और बावड़ी से वे पानी भरते हैं

और तथाकथित जन्माभिमानी वर्णों के लोग उसे चुपचाप सहन करते हैं।

जहाँ तक सन्दर्भ का प्रश्न है, हम यजुर्वेद के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।**

**ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥**

इसका अर्थ इस प्रकार है—

प्रभु कहते हैं कि जैसे मैं सब मनुष्यों के लिए सारे संसार का कल्याण करने वाली और मुक्ति का सुख देने वाली वेदवाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो। इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए परमेश्वर स्वयं कहते हैं कि—मैंने स्वयं ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और स्त्री तथा भूत्यादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, उसी प्रकार इन सब वर्णों को भी वेदादि शास्त्रों को स्वयं पढ़कर समाज के कल्याण के लिए उनका प्रचार करना चाहिए।

३. आपका यह कहना ठीक है कि आजकल अनेक उच्च वर्णों की सन्तानें शूद्रों से भी बदतर हैं और शूद्रों की सन्तानें ब्राह्मणों से भी उत्तम हैं। इसका रचनात्मक समाधान तो केवल यही है कि श्रेष्ठता का मापदण्ड जन्म को न मानकर कर्म को माना जाय। जिस दिन ऐसी स्थिति समाज में पैदा हो जायेगा, उस दिन जन्माभिमान व्यर्थ हो जायेगा और कर्म के आधार पर समाज में मनुष्य अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान ग्रहण कर सकेगा। विद्या-विहीन और ज्ञान-शून्य ब्राह्मण को भी शूद्र समझना चाहिए और विद्या-विनय-सम्पन्न शूद्र को भी ब्राह्मण समझना चाहिए। इससे विपरीत स्थिति ही समाज के लिए अहितकारी बनी हुई है। हम फिर दोहराते हैं कि स्वयं गुण-शून्य व्यक्ति ही अपने जन्म की दुहाई देकर समाज

में उच्चता स्थापित करना चाहते हैं। जब नीच कुल में जन्म लेने वाले योग्य व्यक्तियों को इस प्रकार तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है तो उनमें समाज के प्रति विद्रोह की भावना पैदा होती है। हमारी यह सम्मति कपोल-कल्पित नहीं बल्कि शास्त्र के आधार पर है। अनेक प्रमाणों में से केवल एक प्रमाण यहाँ दे रहे हैं। मनुस्मृति के १०वें अध्याय का ६५वाँ श्लोक है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथ्यव च ॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—

जो शूद्र कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाव वाला बन जाय तो उस शूद्र को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही समझना चाहिए। इसी प्रकार जो व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुल में जन्म लेकर शूद्र के सदृश गुण-कर्म-स्वभाव वाला बन जाय तो उसे शूद्र ही समझा जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी महत्त्व कर्म-जनित योग्यता का है, जन्म का नहीं।

४. चौथे प्रश्न में आप कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के कारण क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ पैदा हो रही हैं, इसलिए आर्यसमाज को चाहिए कि वह वर्ण-व्यवस्था को त्यागने की घोषणा कर दे। आपका यह सुझाव ठीक नहीं है। जितनी समस्याएँ पैदा हो रही हैं, वे जन्म-परक वर्ण-व्यवस्था के कारण ही हैं। इसका दोष वर्ण-व्यवस्था पर नहीं, प्रत्युत वर्ण-व्यवस्था के सही स्वरूप को न समझने पर है। आज यदि संसार में विज्ञान का उपयोग मनुष्य जाति के विनाश के लिए किया जा रहा है तो इसका दोष विज्ञान पर नहीं है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर जितने बर्बर और अमानु-

षिक अत्याचार हुए हैं, उतने शायद किसी और के नाम पर नहीं। परन्तु इसके लिए धर्म दोषी नहीं है। आप जो समाधान प्रस्तुत करना चाहते हैं, वह ऐसा ही है जैसे कोई कहे— कि “जुकाम होने पर नाक को ही काटकरफेंक देना चाहिए— न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।” जब नाक ही नहीं रहेगी तो जुकाम भी किसे होगा। परन्तु यह सही समाधान नहीं है। दोष वर्ण-व्यवस्था का नहीं, उसको गलत ढंग से प्रस्तुत करने वालों का है। इसलिए आर्यसमाज यह तो घोषित कर सकता है कि हम जन्म-परक वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते। परन्तु उससे भी अधिक जोर से इस बात की घोषणा करता है कि—हम गुण और कर्म-परक वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं।

आशा है इन उत्तरों से आपका समाधान हो जायेगा।

[२६ अक्टूबर, १९८६]

## भारतीय अस्मिता का मन्त्रद्रष्टा

संसार के सब मनुष्यों में सब अंगों की समानता होने पर भी प्रत्येक मनुष्य में अपनी कुछ ऐसी विशेषता अवश्य होती है जिससे उसके व्यक्तित्व का निर्धारण होता है और उसे अन्य मनुष्यों से अलग करके पहचाना जा सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की तरह ही प्रत्येक राष्ट्र का भी एक व्यक्तित्व होता है, जिसके कारण उसे अन्य राष्ट्रों से अलग करके पहचाना जा सकता है। जैसे मनुष्य के व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक बाहरी और एक आन्तरिक, उसी तरह किसी राष्ट्र के व्यक्तित्व के भी दो रूप हैं—एक बाह्य और आध्यन्तरिक। जिस तरह मनुष्य का निर्माण शरीर और आत्मा के संयोग से होता है उसी तरह राष्ट्र का निर्माण भी उसके बाह्य भू-खण्ड, भौतिक परिवेश और आन्तरिक विचारधारा तथा संस्कृति से होता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो भारत के इस भौतिक व्यक्तित्व को और आन्तरिक स्वरूप को, जिसे भारत की अस्मिता कहना चाहिए—जिस रूप में ऋषि दयानन्द ने पहचाना उस रूप में पहचानने वाला अन्य व्यक्ति दुर्लभ है। भारत के बाह्य परिवेश को ‘आर्यावर्त’ शब्द जिस रूप में व्यक्त करता है, उस रूप में अन्य कोई शब्द नहीं करता। यह भारत का पर्यायवाची वह आदिकालीन शब्द है जिसमें भारत का प्राचीन गौरव पूर्ण रूप से समाहित है। इस शब्द में आर्यों की जैसी देवत्व की चिर-आराधना, विदेशों में अपनी संस्कृति के प्रसार की अदम्य लालसा और विजिगीषा निहित है, वह किसी और शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं होती। ऋषि दयानन्द ने इसी शब्द का पुनरुद्घार कर देश की पराधीनता के युग में भारतवासियों को नये आत्म-विश्वास और प्राचीन संस्कृति के प्रति अद्भुत नई आस्था से भर दिया था।

भौतिक परिवेश के पश्चात् जहाँ तक इस देश के आन्तरिक परिवेश का सम्बन्ध है, उसको भी जिस रूप में ऋषि दयानन्द ने पहचाना, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऋषि दयानन्द ने बार-बार यह कहा है—“मैं अपनी ओर से कोई नई वात कहने नहीं आया, ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त जिस विचारधारा को मानते चले आये, मैं उसी विचारधारा का प्रचार करने आया हूँ।” हजारों वर्षों के भारत के प्राचीन इतिहास में ‘ब्रह्मा से जैमिनि मुनि पर्यन्त’ वाली विचारधारा पर जो काई छा गई थी, ऋषि दयानन्द ने उस काई को हटाकर पुनः वैदिक संस्कृति का उद्घार किया। भारत का समस्त वाङ्मय, जिस पर भारत उचित रूप से संसार के सामने सिर ऊँचा करके खड़ा हो सकता है, वेदों को केन्द्र मानकर ही उनके चारों ओर घूमता है। इस वाङ्मय में वेद के साथ वेदांग, उपवेद, आरण्यक, प्रातिशाख्य, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत और वे सब संकड़ों काव्य तथा नाटक शामिल हैं जो सारी मानव-जाति के पूर्वजों की अपूर्व थाती हैं। वेदों का और वैदिक संस्कृति का जिस जोर-शोर के साथ ऋषि दयानन्द ने नाद गुंजाया, विगत ५ हजार वर्षों में उसकी तुलना अन्य किसी व्यक्ति से नहीं की जा सकती।

हिन्दू समाज में जितनी धार्मिक और सामाजिक कुरीतियाँ थीं, पुराने पण्डित उन सबका आधार वेदों को ही बताया करते थे। उदाहरण के लिए संस्कृति के पण्डितों का कहना था कि यज्ञों में पशु हिंसा का विधान, सती प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, जन्म-परक जाति व्यवस्था, स्त्रियों और शूद्रों को वेद तथा विद्या पढ़ने से वंचित रखना, छूतछात—आदि सब वेदों में वर्णित हैं, इसलिए वे धर्म का अंग हैं। सबसे पहले व्यक्ति शायद केवल ऋषि दयानन्द ही हैं, जिन्होंने इन सब कुरीतियों का न केवल तर्क के आधार पर खण्डन किया, परन्तु अपनी मान्यताओं को शास्त्रीय आधार भी प्रदान किया। जिन वेदों के नाम से इन सब कुरीतियों का समर्थन किया जाता था, ऋषि

दयानन्द ने उन्हीं वेदों का सही अर्थ करके वेद मन्त्रों के द्वारा ही इन सब कुरीतियों का खण्डन किया। इन्हीं कुरीतियों के कारण विधर्मी लोग हिन्दू समाज के पद-दलित और उपेक्षित वर्ग को तरह-तरह के प्रलोभन देकर या अपनी सत्ता के समय भय दिखाकर धर्मान्तरण किया करते थे। जब सारे हिन्दू समाज को यह पता लगा कि ये कुरीतियाँ कपोल-कल्पित हैं और वेदों में इनका कहीं वर्णन नहीं है, तो उसे विधर्मियों के सामने लजिजत होने की बजाय अपने धर्म पर और अपनी संस्कृति पर गर्व की अनुभूति हुई।

संक्षेप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि भारत के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व के द्योतक, भारत के 'स्व' को जिस रूप में उजागर किया, उसी के कारण ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य-समाज के माध्यम से देश में जहाँ नई धार्मिक और सामाजिक चेतना आयी, वहाँ राजनैतिक चेतना भी बड़ी तीव्र गति से उफन उठी। इसीलिए आर्यसमाज की दो ही भुजाएँ हैं—एक वेद और एक राष्ट्र। ऋषि दयानन्द ने इन दोनों को मिलाकर जिस आध्यात्मिक और राष्ट्रीय चेतना का ज्वार जगाया, उसका प्रभाव देश के समस्त शिक्षित वर्ग पर पड़ा। शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्यसमाज ने जितना कार्य किया, और कर रहा है, उसकी तुलना अन्य किसी संस्था से नहीं की जा सकती। आर्यसमाज की दिन-प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता का भी रहस्य यही है। अन्यथा आर्यसमाज की समकालीन ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज और देवसमाज आदि समाज सुधारक संस्थाएँ आज इस प्रकार लुप्तप्राय न होतीं।

ऋषि दयानन्द ने स्व-धर्म, स्व-संस्कृति, स्व-भाषा, स्व-राज्य, स्व-वेश और स्वदेश आदि पर जो जोर दिया है, इन सबमें मुख्य बात वही 'स्व' का सन्देश है। इस 'स्व' के बिना भारत का व्यक्तित्व ही जैसे नहीं रहेगा। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निर्जीव हो जाता है और वह अग्नि की भेंट कर दिया जाता है, उसी प्रकार

भारतीय अस्मिता का मन्त्रद्रष्टा : १७६

अपने इस 'स्व' के बिना भारत निर्जीव और व्यक्तित्व-शून्य हो जायेगा ।

दीपावली के दिन भारत की अस्मिता के इस मन्त्रद्रष्टा ने परलोक प्रयाण किया था । अमावस्या की घनी अँधेरी रात में कृषि दयानन्द का यह जीवन दीप भारत के बाह्य और आध्यन्तर को चिरकाल तक आलोकित करता रहेगा ।

[ २ नवम्बर, १९८६ ]

## आतंकवाद की छाया में

इस बार तीन विशेष दिवस एक साथ पड़े। ३० अक्टूबर को सरदार पटेल की जन्म जयन्ती थी। ३१ अक्टूबर को श्रीमती इन्दिरा गांधी की पुण्यतिथि थी और एक नवम्बर को दीपमाला का महापर्व था। इन तीनों दिवसों को एक साथ गिनाने का तात्पर्य यह है कि इन तीनों के पीछे एक विशेष भावना है जो उनको महत्वपूर्ण बनाती है।

आजादी के पश्चात्, गृहमन्त्री के रूप में लौहपुरुष सरदार पटेल ने जिस प्रकार ६०० देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय किया, वह उनकी प्रतिभा और पराक्रम का न केवल प्रतीक था, प्रत्युत उसके बिना यह देश कभी एक राष्ट्र के रूप में उभरन पाता। देश का विभाजन करके जहाँ अंग्रेजों ने भारत के लिए एक शाश्वत सिर दर्द पैदा कर दिया था, वहाँ देशी रियासतों को भी यह अधिकार देकरं कि वे चाहें तो पाकिस्तान में शामिल हो सकती हैं या भारत में, या उनकी इच्छा हो तो पूर्णरूप से स्वतन्त्र रह सकती हैं—राष्ट्रीय एकता की जड़ में मठा डालने की पूरी व्यवस्था कर दी थी। परन्तु लौहपुरुष के लौह-संकल्प के सामने अंग्रेजों का वह घड्यन्त्र सफल नहीं हुआ।

उससे अगले दिन इन्दिरा गांधी की पुण्यतिथि को भी हम इसलिए महत्व देते हैं कि राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में, पाकिस्तान को तोड़कर स्वतन्त्र बंगलादेश के निर्माण में और 'ब्लू स्टार आपरेशन' द्वारा खालिस्तान का सपना तोड़ने में उस दुर्गा भवानी ने जिस साहस और वीरता का परिचय दिया, वह भारत के इतिहास की दुर्लभ और गौरवपूर्ण गाथा है।

दीपमाला को भी सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से हम

राष्ट्रीय एकता का ही पर्व मानते हैं। बेशक राजनीति से इस पर्व का कोई सरोकार न हो। किन्तु कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत की आत्मा में व्याप्त जिस सांस्कृतिक एकता को यह पर्व उजागर करता है, वह भी अद्भुत है। इस दिन पर्वत शिखरों से लेकर बनों, नगरों, गाँवों और मरुस्थलों तक आसेतुहिमाचल दीपकों की जैसी पंक्ति एक साथ जगमगाती है, वैसा दृश्य संसार के अन्य किसी स्थान पर सुलभ नहीं है। उस दिन भारत के जन-जन का उत्साह और आनन्द जो पींगे भरता है, वह गैर-भारतीयों के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है।

इन तीनों पर्वों को राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानकर एक साथ देखने के पश्चात् जब हम देश की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हैं, तब लगता है कि जिस राष्ट्रीय एकता के लिए सरदार पटेल ने और इन्दिरा गांधी ने अपना जीवन उत्सर्ग किया, आज वही राष्ट्रीय एकता पुनः खतरे में है। पता नहीं कौन-सा अभिशाप इस देश को छू गया है कि ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों विघटनकारी प्रवृत्तियाँ चारों ओर अपना सिर उठाती नजर आती हैं। जहाँ अमरीकी साम्राज्यवाद, जो देशों को तोड़ने में माहिर है, भारत को चारों ओर से घेरने का प्रयत्न कर रहा है वहाँ भारत की अपनी सीमाएँ भी बहुत सुरक्षित नहीं हैं।

आंग्ल-अमरीकी गुट ने चीन का विभाजन करके दो चीन बनाये —एक कम्युनिस्ट चीन और दूसरा कुओमिन्टांग वाला चीन— ताइवान। कोरिया के दो टुकड़े किये—एक उत्तर कोरिया, दूसरा दक्षिण कोरिया। वियतनाम को दो भागों में विभक्त किया—एक उत्तरी वियतनाम, दूसरा दक्षिण वियतनाम। जर्मनी के दो हिस्से किए—एक, पूर्वी जर्मनी, दूसरा, पश्चिमी जर्मनी। इसी प्रकार भारत के दो टुकड़े किये—एक भारत और दूसरा, पाकिस्तान। आंग्ल-अमरीकी गुट ने अपनी इस तोड़ने की नीति का फल किसको नहीं चखाया ?

पूर्वी अफ्रीका को तोड़ा, पश्चिमी अफ्रीका को तोड़ा और दक्षिण अफ्रीका को तोड़ा। शायद विश्व के सब देशों पर किसी-न-किसी रूप में अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए इस आंगल-अमरीकी साम्राज्यवाद को देशों का विभाजन करके उनको अपना वंशवाद बनाये रखने में सुविधा प्रतीत होती है। इतना सब कुछ करने पर भी उसकी विभाजन की भूख शान्त नहीं हुई तो उसने अपने पिछलमू पाकिस्तान की मार्फत भारत में उन सिरफिरों को शह देना प्रारम्भ कर दिया जो खयाली खालिस्तान का खाब देखते हैं।

हमने ऊपर भारत की सीमाओं के असुरक्षित होने की बात कही है। पूर्वाचल में नागालैंड के उग्रवादी पुनः चीन के साथ अपना सम्पर्क बढ़ा रहे हैं। इसीलिए वहाँ पुराने मुख्यमन्त्री को हटाकर नया मुख्यमन्त्री बनाया गया है। अरुणाचल में चीन की घुसपैठ जारी है ही। भारत सरकार उसको कितना ही कम करके दिखाये परन्तु वह किसी गहरे भावी संकट का संकेत अवश्य है। उधर बंगाल में गोरखालैंड का नया नारा उठा है जिसको लेकर बंगाल का शासक दल और केन्द्रीय शासक दल दोनों अपने-अपने दलीय हितों की दृष्टि से उसे राष्ट्रीय या अराष्ट्रीय कहने में लगे हुए हैं।

उधर उत्तर में कश्मीर की ओर नजर दौड़ायें तो वहाँ अब फारूक अब्दुल्ला के नेतृत्व में कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस की मिली-जुली सरकार बनने की बात चल रही है जो ६ नवम्बर तक पूरी हो जाएगी। परन्तु उसके बाद फारूक अब्दुल्ला कश्मीर में बढ़ते पाकिस्तान समर्थक तत्वों को और 'नये भिण्डरांवाले' को कैसे अंकुश में रख पायेंगे, यह देखना बाकी है। आतंकवादियों को प्रशिक्षण देने के अधिकांश कैम्प आजाद कश्मीर के उन हिस्सों में ही विद्यमान हैं, जो स्वतन्त्र कश्मीर की सीमा के साथ एकदम सटे हुए हैं। किसी भी बड़ी घटना के समय यह स्थिति क्या परिणाम पैदा कर सकती है, यह केवल कल्पना का ही विषय है। सियाचीन ग्लेशियर का विवाद

ज्यों-का-त्यों मौजूद है ही और पाकिस्तान वहाँ पूरी तरह शैतानी करने पर आमादा है। अगर इस सियाचीन ग्लेशियर पर कभी भारतीय सेना की पकड़ ढीली पड़ जाय और पाकिस्तानी सेना हावी हो जाय, तो कराकुर्रम का मार्ग और अक्साई चिन पर पहले से ही चीन का कब्जा लदाख के लिए भयंकर खतरा पैदा कर सकते हैं।

रहा पश्चिमी अंचल। वहाँ केरल में जिस प्रकार मुस्लिम लीग सिर उठा रही है, और अरब देशों से आने वाले बेहिसाब पैट्रो-डालर के बल पर वहाँ अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को उकसा रही है, वह कम चिन्ता का विषय नहीं है। वहाँ मुस्लिम-बहुल इलाका बताकर मल्लापुरम अलग जिला बना ही दिया गया है। खाड़ी देशों में और अरब देशों में काम करने वाले मजदूर तथा अन्य कर्मचारी सबसे अधिक किसी प्रदेश से जाते हैं तो वह केरल ही है। अपने सेवाभाव के लिए विश्व-भर में प्रसिद्ध केरल की नर्सों की इन मुस्लिम देशों में जाकर जैसी दुर्गति होती है और जिस प्रकार उनका जीवन बर्बाद हो जाता है, वह किसी भी सहृदय व्यक्ति के रोंगटे खड़े कर देने के लिए काफी है। अभी-अभी सुना गया है कि जब से बम्बई हाई में समुद्र गर्भ से तेल निकलना शरू हुआ है और भूगर्भवेता वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि अरब देशों में निकलने वाला तेल अब समुद्र के अन्दर-ही-अन्दर बहकर अरब सागर में भारतीय तट के समीप पहुँच गया है, तब से अरब देशों ने केरल के अनेक मुस्लिम पूँजी-पतियों को पैसा देकर उन्हें अपनी ओर से तेल निकालने के लिए प्राइवेट कम्पनियाँ बनाने के लिए तैयार किया है। इस घड्यन्त्र की सीमाएँ भारत के बाहर अन्य देशों तक जिस प्रकार पहुँचती हैं, उससे लगता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय घड्यन्त्र का हिस्सा है।

अब रही भारत की दक्षिणी सीमा। वहाँ श्रीलंका ने जिस प्रकार भारत-विरोधी रूख अपनाया है और बौद्ध मत का अनुयायी होने के कारण अर्हिसा के पालन का दम भरते हुए भी वहाँ के हिन्दू-

तमिलों पर हिंसा का नग्न ताण्डव प्रारम्भ किया है, वह दक्षिण की सीमा को चाहे जब उग्र रूप में सुलगाने के लिए काफी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल भारत के चारों ओर विद्यमान बाहरी देशों से, बल्कि भारत की अपनी आन्तरिक चतुर्दिक सीमाओं से भी राष्ट्रीय एकता के लिए निरन्तर चेतावनी मिलती चली जा रही है। राष्ट्र की आन्तरिक स्थिति यह है कि केवल प्रधानमन्त्री या पंजाब में पुलिस के महानिदेशक श्री रिवैरो पर ही आतंकवादी अपना हत्या का मनसूबा पूरा करने की फिराक में नहीं हैं, बल्कि देश का कोई भी स्वतन्त्र नेता, पत्रकार, बुद्धिजीवी या राजनेता सुरक्षित नहीं है। आतंकवाद के विरोध में आवाज उठाने का मतलब है 'हिट लिस्ट' में अपना नाम दर्ज करवाना। हृद हो गई—आज इस देश में देश की स्व० प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी को अपना दुश्मन बताकर उसके हत्यारों को शहीद बनाकर पूजा जा रहा है। आज ऐसा कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है, जो अपनी सुरक्षा के लिए अपने अंगरक्षकों से घिरा हुआ, अपने घर से बाहर एक कदम भी रख सकता हो। जब देश के नेताओं का यह हाल है, तो सामान्य जन का क्या हाल होगा ? कोई पर्व, कोई समारोह, कोई जलसा-जलूस या कोई शोभा-यात्रा ऐसी नहीं निकल सकती जिसके चारों ओर बन्धूकधारी सैनिकों और पुलिस का पहरा न हो। इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद से केन्द्रीय प्रशासन ने आतंकवाद से निपटने में जिस साहस-हीनता का परिचय दिया है उसी का यह परिणाम है कि आज आतंकवाद सुरक्षा की तरह अपना पूर मुँह खोलकर सारे देश को निगलने को तैयार है। इस आतंकवाद में पाकिस्तान या अन्य देशों की कितनी शह है, उस पर बहस करना बेकार है। आखिर हर हालत में उससे निपटना तो हमको ही है। आतंकवाद की छाया में घुट-घुट कर जीवित रहने का यह अभिशाप हम कब तक भोगते रहेंगे ? राष्ट्र को अपने साहस का नया परिचय देना होगा। [ ६ नवम्बर, १९८६ ]

## २६ नवम्बर : संविधान के प्रति आस्था का दिवस

२६ नवम्बर १९४६ ईस्टी को भारत का जो संविधान स्वीकृत किया गया था, इसकी उद्देशिका में कहा गया था कि देश के समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए हम इस संविधान को आत्मार्पित करते हैं। इसके बाद १४वें अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि भारत के किसी भी क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समान संरक्षण से बंचित नहीं किया जायेगा। १५वें अनुच्छेद में कहा गया है कि किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान के ४४वें अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जायेगा। शाहबानो केस में अपना निर्णय देते हुए उच्चतम न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार से आग्रह किया था कि वह समान आचार संहिता की दिशा में अवश्य प्रयत्नशील हो। शायद उसी का यह परिणाम था कि प्रमुख विधिवेत्ताओं के राष्ट्रीय सम्मेलन में इस प्रश्न को सक्रिय रूप से उठाया गया। प्रशासन सुधार राज्यमन्त्री श्री चिदम्बरम् ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि प्रधानमन्त्री इस प्रकार की संहिता के पूरी तरह पक्ष में हैं। केन्द्रीय विधिमन्त्री श्री अशोक सेन ने बार-कॉसिल के इस कन्वेंशन का उद्घाटन किया था।

सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश विधि-वेत्ताओं ने जहाँ देश में समान आचार-संहिता लागू करने का समर्थन किया, वहाँ मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने इसका विरोध करते हुए कहा—इस प्रकार की संहिता मुसलमानों पर लागू नहीं होनी चाहिए। श्री चिदम्बरम् ने अपने

भाषण में यह भी कहा था कि भारत को यदि आधुनिक राष्ट्र बनना है तो उसके प्रत्येक नागरिक के लिए समान आचार संहिता आवश्यक है, और यदि उसमें कोई विकल्प रखा गया तो समस्त संहिता व्यर्थ हो जायेगी। मुस्लिम अधिवक्ताओं का विरोध इस आधार पर था कि इस प्रकार की संहिता मुस्लिम समाज के पर्सनल ला में बाधक होगी, जबकि स्व० पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गांधी ने संसद के अन्दर और बाहर बार-बार यह बात कही थी कि इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं की जायेगी। इसलिए यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि समान संहिता केवल विवाह, तलाक, गुजारे का भत्ता, गोद लेना और सम्पत्ति के उत्तराधिकार तक ही सीमित है, क्योंकि इसके अलावा अन्य चीजों में सबके लिए समान संहिता पहले से भौजूद है ही। मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण विधेयक के पास होने से पहले तक दण्ड संहिता सबके लिए समान रूप से लागू थी ही। भारत के मुसलमानों को अपने शरीयत कानून पर बहुत आस्था है। परन्तु आजादी से पहले उसमें दो बार संशोधन हो चुका है। सन् १९२६ के बाल-विवाह विरोध अधिनियम के अन्तर्गत १८ वर्ष से कम आयु के पुरुष और १६ वर्ष से कम आयु की स्त्री के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, जबकि शरीयत में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। इसके अलावा १९३१ के मुस्लिम विवाह सम्बन्धी अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि कुछ शर्तों के अधीन विवाहित मुस्लिम महिला को भी तलाक का अधिकार है, जबकि शरीयत में यह अधिकार केवल पुरुषों को ही है।

इसके अलावा मिस्र भी मुस्लिम देश है, पर वहाँ पहली पत्नी की और न्यायालय की अनुमति के बिना कोई दूसरा विवाह नहीं कर सकता। ट्यूनीशिया में भी बहु-पत्नी-विवाह पर रोक लगा दी गई है। अब वहाँ कोई भी तीन बार तलाक शब्द का उच्चारण करके एकतरफा तलाक नहीं दे सकता। पाकिस्तान ने भी पारिवारिक

कचहरियों की स्थापना करके तलाक को अब इतना आसान नहीं रहने दिया है। इसका अर्थ यह है कि मुस्लिम पर्सनल ला में भी समय और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। संविधान निर्माण के समय भी संविधान सभा के ५ मुस्लिम सदस्यों ने समान आचार संहिता का इस आधार पर विरोध किया था कि इससे संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को दी गई धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का हनन होता है। परन्तु अन्त में उन पाँचों सदस्यों ने यह भी स्वीकार किया था कि समान नागरिक संहिता हमारा लक्ष्य होना चाहिए, परन्तु यह धीरे-धीरे और उससे प्रभावित होने वाले लोगों की रजामन्दी से लागू होनी चाहिए। उसके बाद ही संविधान में समान आचार संहिता वाला अनुच्छेद जोड़ा गया था।

इस मुद्दे पर तब श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने यह स्पष्ट किया था कि—समान आचार संहिता और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार में कोई परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार मूलतः संसद को रहेगा ही। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन के समय जब गुजरात में शरीयत कानून लागू किया गया तो खोजा और कच्छी मेनन उससे सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि वे पीढ़ियों से हिन्दू रोति-रिवाज मानते चले आ रहे थे। परन्तु केन्द्रीय धारासभा के मुस्लिम नेताओं के आग्रह के कारण खोजा और कच्छी समुदाय को अनिच्छापूर्वक उसे स्वीकार करना पड़ा था। इसके अलावा प्रमुख विविवेत्ता श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने कहा था कि अंग्रेजों ने अपराधों के सम्बन्ध में जब हिन्दू और मुसलमानों पर समान रूप से ताजीरात हिन्दू लागू किया, तब किसी मुस्लिम नेता ने उसका विरोध नहीं किया था। इस पर डा० अम्बेडकर ने यह रहस्योद्घाटन भी किया कि ब्रिटिशकाल में भी मुस्लिम शरीयत कानून सब मुसलमानों पर लागू नहीं था। सन् १९३५ तक सीमा प्रान्त के मुसलमानों पर भी हिन्दू कानून ही

## १८८ : असलियत क्या है

लागू होता था। परन्तु सन् १९३६ में केन्द्रीय धारासभा ने वहाँ भी शरीयत वाला कानून लागू कर दिया। उन्होंने यह भी बताया कि सन् १९३७ तक उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में उत्तराधिकार के मामले में मुसलमानों पर भी हिन्दू कानून ही लागू होता था। मातृ-सत्ता प्रधान उत्तर मलाबार में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों पर एक ही कानून समान रूप से लागू होता था। अन्त में अपने निष्कर्ष के रूप में उन्होंने यह सुझाव दिया था कि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए एक समान नागरिक संहिता बननी चाहिए, परन्तु संसद यह प्रावधान कर सकती है कि यदि कोई मुसलमान, सरकारी अधिकारी के सामने जाकर व्यक्तिगत रूप से यह बयान दे दे कि मुझ पर शरीयत कानून ही लागू होना चाहिए, तो उसके बाद उस पर और उसके उत्तराधिकारियों पर शरीयत कानून ही लागू होगा, समान नागरिक कानून नहीं। सन् १९३७ में उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में यही व्यवस्था की गई थी।

डॉ० अम्बेडकर के इस व्यावहारिक सुझाव को बड़ी आसानी से लागू किया जा सकता है। परन्तु शुरू से ही समस्त मुस्लिम समाज के लिए उसे वैकल्पिक कर दिया जाय तो समान नागरिक संहिता का कोई अर्थ नहीं रहता जैसाकि श्री चिदम्बरम् ने कहा है। यदि कोई व्यक्ति-विशेष राष्ट्र के अंग के रूप में उसे अपने ऊपर लागू नहीं करवाना चाहता तो उसके लिए और भविष्य में उसके उत्तराधिकारियों के लिए भिन्न व्यवस्था की जा सकती है। परन्तु ऐसे चन्द व्यक्तियों की खातिर सारे राष्ट्र को समान नागरिक संहिता के लाभ से क्यों वंचित किया जाए? यह भी ध्यान में रखने वाली बात है कि यदि कोई अपने ऊपर मुस्लिम शरीयत वाला कानून ही लागू करवाना चाहता हो तो उसे चोरी करने पर हाथ कटाने और व्यभिचार करने पर संगसार (पत्थरों से मार-मारकर हत्या कर देने) वाली व्यवस्था भी स्वीकार करनी होगी।

इस समय हम अपने राष्ट्र को जो आधुनिक राष्ट्र का रूप देना चाहते हैं, उसका सबसे पहला अर्थ यही है कि राष्ट्र के नागरिक किसी भी चीज पर साम्प्रदायिक रूप से सोचने के बजाय कानून और व्यवस्था स्थापित करने के लिए असाम्प्रदायिक और तर्कपूर्ण ढंग से सोचें। हाल में ही लोकसभा अध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ ने यह रचनात्मक सुझाव रखा था कि सब साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए और उन्हें राजनीतिक दल के रूप में मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। केन्द्रीय संसदीय कार्य मन्त्री श्री हरिकिशन लाल भगत ने भी इसी ढंग के विचार प्रस्तुत किए थे। परन्तु जो लोग अपने सम्प्रदाय को राष्ट्र से अधिक महत्त्व देते हैं, उनका सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। अपने संकीर्ण दायरे के बाहर कोई तर्क-संगत और बुद्धिसम्मत बात भी उन्हें अनुचित प्रतीत होती है। स्वयं राष्ट्रवासियों को यह सोचना होगा कि साम्प्रदायिकता के इस संकीर्ण रूप को किस सीमा तक सहन किया जाए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय विभिन्न राजनैतिक दलों के मन में राष्ट्रहित की बात उतनी नहीं आती, जितनी अपने सम्प्रदाय के हित की बात आती है। इन साम्प्रदायिक हितों के नाम पर कुछ निहित स्वार्थ वाले लोग ही अपने सम्प्रदाय वालों को निरन्तर राष्ट्रहित के विरोध में उकसाना अपना कर्तव्य समझते हैं। जब तक राष्ट्र का विशाल बहुमत इस प्रकार की संकीर्णता की ग्रन्थि से नहीं निकलेगा तब तक आधुनिक राष्ट्र का हमारा स्वप्न, स्वप्न ही बना रहेगा।

फिर २६ नवम्बर निकट आ रहा है। १९४६ के २६ नवम्बर को हमने अपना संविधान स्वीकार किया था। क्या यह नहीं हो सकता कि २६ नवम्बर के दिन को हम संविधान के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने का दिन घोषित करें और उसे उसी रूप में मनायें? आखिर जिस संविधान को हमने आत्मापित किया है, उसे हम अपनी आत्मा से कब तक दूर-दूर सरकाते रहेंगे?

[१६ नवम्बर, १९५६]

## पाकिस्तान की सिख रेजीमेण्ट

सन् १९८४ की बात है। स्वर्ण-मन्दिर में ब्लू स्टार ऑफरेशन वाली कार्रवाई हो चुकी थी। कुछ दिन बाद नई दिल्ली के विट्ठल भाई पटेल भवन में एक सभा हुई जिसमें विपक्षी दलों के अनेक नेताओं ने भाग लिया तथा कई तथाकथित सिख-हितैषी पत्रकार और बुद्धि-जीवी भी अच्छी संख्या में शामिल हुए। श्रोताओं की संख्या भी कम नहीं थी। सैनिक कार्रवाई के विरोध में गर्म-गर्म भाषण हुए और ‘इन्दिरा गांधी मुर्दाबाद’ के नारे भी लगाए गये। उसी सभा में एक फौजी वृद्ध सिख अफसर से भेट हुई, जिन्हें सन् ४५-४६ में किसी आरोप में सेना से हटाया गया था। उसके बाद से वे अपनी बहाली के लिए केस लड़ते रहे, किन्तु उनके अनुकूल फैसला नहीं हो सका। उनके पास एक थैला था जिसमें उनके केस से सम्बन्धित कागजात भरे हुए थे। वे फिरोजपुर के निवासी थे, अपनी बातचीत में उन्होंने लेखक को बताया—

“हमारे गाँव से पाकिस्तान की सीमा केवल ७-८ मील दूर है। विभाजन के तुरन्त बाद सीमावर्ती पाकिस्तानी गाँवों से लोग डर के मारे अपने घरों को छोड़कर चले गये थे। परन्तु जब से खालिस्तानी आन्दोलन शुरू हुआ, तब से वे पाकिस्तानी अपने घरों में वापिस आ गये। टूटे-फूटे घरों की मरम्मत हो गई। यही गाँव तस्करी के केन्द्र बन गये। भारत की ओर से जाने वाले सिखों का उन गाँवों में खूब स्वागत होने लगा। वहाँ उनको मुफ्त में खाना और रिहायश की सुविधा मिलती और उसके बाद उनको पाकिस्तान के अन्दर निश्चित स्थानों पर भेज दिया जाता।”

सरदारजी कहते गए—“हमने अपने गाँवों से भी कितने ही जवानों

को पाकिस्तान भेजा है। अब तो हम अपने जवान बेटों को भारत के किसी और स्थान पर रोजगार तलाश करने की बजाय उन्हें सीधा पाकिस्तान भेजते हैं और उनसे साफ-साफ कहते हैं कि जिस इन्दिरा गांधी ने सिखों का जबर्दस्त अपमान किया है, उसके राज्य में हमें नहीं रहना। पाकिस्तान जाकर पहले ट्रेनिंग लो, फिर तुम छोटे-छोटे हथियार लेकर मत आओ, बल्कि अब तो सीधे टैंक लेकर आओ। अब हम अपना खालिस्तान बनाकर ही रहेंगे, या हिन्दुस्तान छोड़कर पाकिस्तान में जाकर रहेंगे, जहाँ हमारी इतनी इज्जत होती है।”

खालिस्तान आन्दोलन को शहदेने में पाकिस्तान का कितना हाथ है, अब तक यह जग-जाहिर हो चुका है। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि ‘खालिस्तानी योजना’ का निर्माता ही पाकिस्तान है। स्वर्ण-मन्दिर में पंजाब सरकार की कार्रवाई से पहले जो खालिस्तान का घोषणा-पत्र पढ़कर सुनाया गया था, उसका प्रारूप, स्वयं श्री बरनाला के कथनानुसार पाकिस्तान में ही तैयार हुआ था।

पहले स्थाल था कि बंगलादेश बनाने के बाद उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारत के विघटन के लिए पाकिस्तान ने यह योजना तैयार की थी, परन्तु बाद में पता लगा कि यह योजना बंगलादेश की मुक्तिके बाद सन् १९७१ में नहीं, बल्कि सन् १९६५ में, भारत पर आक्रमण करके वापिस मुँह की खाने के बाद ही पाकिस्तान ने तैयार कर ली थी। उस योजना में दिमाग ब्रिटेन का था और उसे पूरा करने का उत्तरदायित्व पाकिस्तान ने सँभाला था। उस समय के समाचार-पत्रों को पढ़ने से पता लगता है कि आतंकवादियों को पाकिस्तान से मदद मिलने का एकमात्र उद्देश्य पंजाब को भारत से काटकर एक अलग देश बना देना था। पाकिस्तान के खुफिया विभाग ने उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए विस्तृत स्फरेखा तैयार की थी और पाकिस्तान के अन्य राजनीतिक अधिकारियों ने उसे अपनी सहमति दी थी।

इस योजना के अन्तर्गत पहले पाकिस्तान के इशारों पर चलने वाले ब्रिटेन के उर्दू अखबारों ने ऐसे भड़काने वाले और बेबुनियाद समाचार छापने शुरू किए कि भारत में सिखों के अधिकारों का हनन हो रहा है। मुस्लिम अखबार भी सिखों की वकालत करने लगे। इसके पीछे प्रच्छन्न उद्देश्य यही था कि सिख मुसलमानों को अपना सबसे बड़ा दोस्त और हमदर्द समझने लगे। परन्तु जब इस चाल में सिख ज्यादा नहीं फैसे तो लन्दन की एक जनसम्पर्क एजेन्सी से मदद माँगी गई। एजेन्सी ने जो सुझाव दिए वे इस प्रकार थे—

(१) पाकिस्तान में ननकाना साहब और डेरा बाबा नानक साहब आदि प्रमुख तीर्थ-स्थलों के रख-रखाव में सुधार किया जाए।

(२) गुरु नानकदेव के जन्म दिवस तथा बैसाखी जैसे उत्सवों पर सिखों को बड़ी संख्या में इन तीर्थ-स्थलों पर जाने के लिए रियायती दर पर विमान सेवाएँ उपलब्ध कराई जाएँ।

(३) गुरुग्रन्थ साहब के पाठ तथा शब्द-कीर्तन के लिए विशेष सुविधाएँ दी जाएँ।

(४) अन्य देशों में बसे सिखों को भी ऐसे मौकों पर आने के लिए खुले दिल से वीसा दिए जाएँ।

(५) सिखों के लिए गुरुग्रन्थ साहब तथा शब्द-कीर्तन के विशेष कैसेट तैयार किए जाएँ और उनकी बिक्री न केवल ननकाना साहब आदि में की जाए, बल्कि विदेशों में भी।

इन सुझावों पर पाकिस्तान ने तुरन्त अमल शुरू कर दिया क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनका प्रभाव दूर तक पड़ने वाला था। विदेशों में बसने वाले ऐसे असन्तुष्ट सिखों से पहचान बढ़ाई जाने लगी जो किसी-न-किसी रूप में इस काम में सहायक हो सकते थे।

इसके बाद पाकिस्तान ने आतंकवादियों को अनेक रास्तों से हथियार भेजने शुरू किए और पाकिस्तान में कई प्रशिक्षण-शिविर

खोले जहाँ भारत से गये सिखों को प्रशिक्षण दिया जाता था। पाकिस्तान में जिन स्थानों पर ये शिविर खोले गये थे, उनके बारे में भारत सरकार को भी सूचना मिली। भारत सरकार ने यद्यपि अपनी ओर ने उन स्थानों के नाम उजागर नहीं किए, परन्तु बार-बार यह कहा कि हमारे पास प्रमाण मौजूद हैं। पाकिस्तान सरकार से शिकायत भी की। किन्तु पाकिस्तान सदा उन शिविरों के अस्तित्व से इन्कार करता रहा। जानकार लोगों के अनुसार पाकिस्तान में जिन स्थानों पर ये शिविर बनाये गये थे और जिनमें भारत से गये सिखों को प्रशिक्षण दिया जाता था, वे इस प्रकार हैं—

नारोवाल, पसरूर और डस्का (जिला स्यालकोट); नारंगमण्डी, एमनाबाद और मुरीदके (जिला शेखूपुरा); जल्लोपठाना, बर्की, भगवानपुरा और मुगलपुरा (जिला लाहौर); कोहमरी और अटक का किला। कश्मीर के सीमावर्ती उड़ी और पुँछ के इलाके में भी कुछ शिविर खोले गये जिनसे समय-समय पर घुसपैठिए कश्मीर में जाकर भारत-विरोधी हिंसक कार्रवाइयों को उकसाते रहते थे।

इसके अलावा पाकिस्तान के कुछ मुस्लिम युवकों ने भी खालिस्तान के निर्माण के लिए कुर्बानी देने की शपथ ली थी। जम्मू-कश्मीर में जमायते इस्लामी तो खुलकर खालिस्तान की माँग का समर्थन करती ही रही है। आनन्दपुर साहब सम्मेलन में दिल्ली की जामा मस्जिद के इमाम ने भारत सरकार पर सिखों तथा मुसलमानों पर अन्याय और अत्याचार होने का जो उत्तेजक भाषण दिया था, वह भी अकारण नहीं था। पाकिस्तान समय-समय पर कुछ मुस्लिम युवकों को नकली सिख बनाकर भी भारत में भेजता रहा है और वे समय-समय पर तस्करों के रूप में या घुसपैठियों के रूप में सीमा सुरक्षा बल द्वारा पकड़े जाने पर इस रहस्य का उद्धाटन भी करते रहे हैं। इन्हीं प्रच्छन्न पाकिस्तानियों ने पंजाब के सिख और हिन्दुओं को आपस में लड़ाने के लिए हिन्दू-मन्दिरों में गायों के कटे सिर तथा गुरुद्वारों में

तम्बाकू और बीड़ी सिगरेट के पैकेट फैंकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहा। पाकिस्तान-स्थित हृबीब बैंक की विदेश शाखा के माध्यम से भारी मात्रा में आतंकवादियों को धन भेजे जाने के सम्बन्ध में भी कुछ कागजात स्वर्ण-मन्दिर से मिले थे।

अब पाकिस्तान ने पूरी तरह से अपने चेहरे पर से नकाब उतार दी है और खुलकर सिख रेजीमेण्ट बनाने की तैयारी कर ली है। पाकिस्तान के अखबारों में विज्ञापन दिए जा रहे हैं—“सिखो आओ, पाकिस्तानी फौज में रंगरूटों और अफसरों की ट्रेनिंग चालू है, हमारी फौज के सिपाही बनो और हमारी तरफ से हिन्दुस्तान से लड़ो।”

न केवल पाकिस्तान के उर्दू अखबारों में सेना में भर्ती के ऐसे विज्ञापन छपे हैं, बल्कि बम्बई के एक अखबार के अनुसार अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर में गुरुमुखी में भी इस प्रकार के पोस्टर चिपकाए गये हैं। पाकिस्तान में सिख रेजीमेण्ट खड़ी करने के लिए जोर-शोर से प्रचार जारी है। अब तक यह ट्रेनिंग चोरी-छिपे, जेल की चारदीवारी के पीछे, या पब्लिक की नजरों से दूर अलग-थलग शिविरों में दी जाती थी, अब पाकिस्तान खुल्लमखुल्ला आतंकवादियों की रेजीमेण्ट बनाने में जुटा है। अब तक आतंकवादियों को थोड़ी-बहुत ट्रेनिंग, एक स्टेनगन, कुछ रुपये और हेरोइन देकर भारत की सीमा की ओर भेज दिया जाता था। अब आतंकवादियों के सामने पूरे फौजी कैरियर का रास्ता खोल दिया गणा है और अब उन्हें सिखाया जा रहा है कि तुम बहादुर लोग हो, हमारी फौज में भर्ती होवो और हिन्दुस्तान के विरुद्ध अपनी बहादुरी का प्रदर्शन करो।

अमरीका से धड़ाधड़ पाकिस्तान में जो परम्परागत हथियारों से लेकर आधुनिकतम हथियारों की खेप-पर-खेप चली आ रही है, आखिर उसका सदुपयोग करने वाले कुछ जवान भी तो चाहिएँ और उन जवानों की कमी यदि भारत के आतंकवादी ही पूरी कर दें, तो पाकिस्तान को इसमें डबल फायदा है। भारत से लड़ने के लिए पाकिस्तान अपनी

फौज तो पीछे भेजेगा, पहले पाकिस्तान की यह सिख रेजीमेण्ट ही आगे आएगी, ताकि भारतीय सेना के बीर जवानों के हाथों मरें तो भारतीय ही मरें। इस प्रकार अपने देश के विरुद्ध हथियार उठाने वाले राष्ट्रद्रोहियों का अन्त में क्या हश्र हुआ है, उसके उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं। उनसे कोई सबक न लेना चाहे तो उसका इलाज क्या है? जो अपने देश के प्रति वफादार नहीं हो सके, वे पाकिस्तान के प्रति कब तक वफादार रहेंगे?

अब तो पाँच सदस्यों वाली पंथिक समिति ने भी यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यदि पड़ौसी देश पाकिस्तान से युद्ध होगा तो हम किसी भी सूरत में भारत का समर्थन नहीं करेंगे, बल्कि उसके विरोधी राष्ट्र का ही समर्थन करेंगे। उधर समाचार यह भी है कि अखिल भारतीय सिख छात्र-संघ के संयोजक गुरजीतसिंह इन दिनों पाकिस्तान में हैं और वहाँ हथियारों का सौदा कर रहे हैं। ये गुरजीतसिंह आतंकवादी संगठनों के लिए इससे पहले भी हथियार खरीदने के लिए अनेक बार पाकिस्तान जाते रहे हैं। ये भिण्डरांवाले के दामाद हैं, खालिस्तानी कमाण्डो फोर्स के मुखिया हैं और घोषित अपराधी हैं। पंजाब पुलिस के महानिदेशक रिबैरो के कथनानुसार पंजाब की हिंसात्मक घटनाओं के पीछे जो सात दिमाग काम कर रहे हैं, उन्हीं में से एक गुरजीतसिंह भी हैं। अब उन्हें सिख छात्र-संघ के संयोजक हरजिन्दरसिंह की गिरफ्तारी के बाद छात्र-संघ का नया संयोजक बनाया गया है और उनकी गिरफ्तारी के लिए एक लाख का इनाम घोषित है। इसी ३१ अक्टूबर को इन्दिरा गांधी के हत्यारे बेअन्तसिंह की दूसरी बरसी मनाने के लिए स्वर्ण-मन्दिर में जो शहीदी समागम आयोजित किया गया था, उसकी अध्यक्षता इसी गुरजीतसिंह ने की थी। परन्तु वे ऐसे रहस्यमय ढंग से वहाँ से गायब हो गये कि पुलिस की पकड़ में नहीं आए।

पाकिस्तान का यह नया पेंतरा भविष्य में क्या गुल खिलाएगा ? आतंकवादियों को प्रश्नय न देने के लिए एक तरफ दक्षिण एशियाई देशों के शिखर-सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रनेता चिन्तित हैं, दूसरी ओर पाकिस्तान खुल्लमखुल्ला आतंकवादियों का अपनी नई रेजीमेण्ट में शामिल होने के लिए आह्वान कर रहा है। पाकिस्तान अभी तक संसार को झाँसा देने की जिस नीति पर चलता रहा है, उसी नीति का यह एक नया पेंतरा नहीं तो और क्या है ?

[२३ नवम्बर, १९८६]

## नया सिख गुरुद्वारा कानून

बब नया सिख गुरुद्वारा कानून बनने की तैयारी चल रही है। सिख बन्धु चिरकाल से इस प्रकार के कानून की माँग करते रहे हैं। खासतौर से स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक बार उन्होंने अपनी इस माँग को दोहराया है। परन्तु अब तक जितने भी प्रधानमन्त्री हुए, उन्होंने इस माँग के आगे झुकने का कोई रुख प्रदर्शित नहीं किया। क्योंकि इस कानून में निहित खतरा भी उन्हें नजर आता रहा है। जब जनता पार्टी का शासन आया (१९७७-८०), तब उस समय के गृहमन्त्री चौ० चरणसिंह ने सन् १९७८ में अमृतसर की एक सार्वजनिक सभा में बहु घोषणा की थी कि—अखिल भारतीय गुरुद्वारा विधेयक इस वर्ष के अन्दर-अन्दर संसद में पास हो जाएगा। परन्तु अकालियों की ओर से उसका आलेख प्रस्तुत करने में निरन्तर विलम्ब होता रहा और अन्त में जनता पार्टी ही अपदस्थ हो गई।

२४ जुलाई, १९८५ को जो ऐतिहासिक 'राजीव-लोंगोवाल-समझौता' हुआ। उसकी एक धारा में यह भी स्वीकार किया गया कि—“गुरुद्वारों के सम्बन्ध में अखिल भारतीय कानून बनाया जाय।” परन्तु किसी-न-किसी कारण से आज तक 'राजीव-लोंगोवाल-समझौते' की इस धारा पर अमल नहीं हो सका। अभी दो मास पहले भारत-सरकार ने पंजाब सरकार और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी को उस कानून का मसविदा विचार के लिए भेजा है। पंजाब के अकाली मन्त्रिमण्डल ने उस आलेख पर विचार करने के लिए प्रमुख सिखों की एक कमेटी बनाई जिसका अध्यक्ष डा० गुरनाम सिंह तीर को बनाया गया। इस कमेटी ने सभी सिख संस्थाओं से, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रधान से और असन्तुष्ट अकाली नेताओं से भी विचार-विमर्श किया है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने भी अपने सुझावों के साथ एक

आलेख पंजाब सरकार को भेजा है। समझा जाता है कि इस आलेख पर सभी गुटों के अकालियों की सहमति है।

परन्तु यदि अकालियों के सभी वर्ग किसी एक आलेख पर पूरी तरह सहमत हो जायें तो उनकी आपसी मतभेदों के आधार पर चलने वाली राजनीतिक प्रवृत्तियाँ और येन-केन-प्रकारेण सत्ता हथियाने की चाल कैसे चलेगी ? हाल में ही पता लगा है कि संयुक्त अकाली दल के नेताओं ने इस आलेख के प्रति आक्रोश प्रकट किया है और बाबा जोगेन्द्र सिंह ने—जो भिण्डरांवाले के पिता हैं—१५ आदमियों की एक अलग कमेटी बनाई है जो इस आलेख पर अपने ढंग से विचार करेगी। पंजाब के पूर्व मन्त्री और संयुक्त अकाली दल के महासचिव श्री आत्मा सिंह चाहते हैं कि—इस आलेख को शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की 'जनरल बाडी' की मीटिंग में रखा जाय। परन्तु वह शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी कौन-सी होगी—यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि—आतंकवादी गुट ने अपनी अलग समानान्तर 'पंथिक कमेटी' बना रखी है। इसी बीच ३० नवम्बर को शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रधान-पद का भी चुनाव होना है जिसमें बरनाला तथा बादल गुट अपनी-अपनी ओर से अपनी पसन्द के व्यक्ति को उसका प्रधान बनाने की पैंतरेबाजी में लगे हुए हैं।

सन् १९२५ में जो सिख-गुरुद्वारा ऐकट बना था, उसके अधीन पिछले ६० वर्षों में ऐसे अनेक मुकद्दमे लड़े गये जिनमें गैर सिख पूजा स्थलों को भी सिख गुरुद्वारा मानने का आग्रह किया गया। आज लगभग ५०० से अधिक ऐसे गुरुद्वारे हैं, जिन पर अकाली दल का कब्जा है। इनमें से कितने ही स्थान ऐसे हैं जो पहले सिख गुरुद्वारे नहीं थे, हिन्दू-सिख दोनों साझे पूजा स्थल थे। परन्तु जब से अकालियों में अपने-आपको हिन्दुओं से अलग बताने का आन्दोलन चला तबसे उन पूजा-स्थलों को केवल सिखों के नियन्त्रण में रख दिया गया।

पाठकों को शायद यह जानकर आश्चर्य हो कि जितने प्रसिद्धतम

गुरुद्वारे हैं, उनमें अभी तक महाराजा रणजीत सिंह के समय के, दीवारों पर बने हुए ऐसे तैल-चित्र मौजूद हैं, जो हिन्दू पौराणिक देवी-देवताओं से सम्बद्ध हैं। इन चित्रों में राम और कृष्ण के अलावा गणेश, हनुमान, दुर्गा तथा अन्य अनेक देवी-देवताओं और ऐतिहासिक महापुरुषों के चित्र शामिल हैं। परन्तु अब उन चित्रों को जनता की आँखों के सामने न आने देने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। पाठकों को यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि किसी समय स्वर्ण मन्दिर में भी अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ रखी थीं और हिन्दू तथा सिख समान रूप से उनकी अर्चना में भाग लिया करते थे। परन्तु बाद में जब स्वर्ण मन्दिर से वे मूर्तियाँ हटा दी गईं तब अमृतसर में ही उन मूर्तियों को रखने के लिए दुर्घटना मन्दिर बना। वहाँ से हिन्दुओं और सिखों के बीच की दरार और चौड़ी होती गई।

सिख गुरुओं की क्या भावना थी, यह इसी से स्पष्ट है कि स्वर्ण मन्दिर को 'मन्दिर' नाम दिया गया, गुरुद्वारा नहीं, और उसके अन्दर भी 'हर मन्दिर' ही बना। हरि के मन्दिर का क्या अर्थ होता है, यह किसी समझदार व्यक्ति को बताना आवश्यक नहीं। सिख बन्धुओं में यह आम प्रवृत्ति रही है कि जिस स्थान पर गैर-कानूनी कब्जा करना हो, वहाँ निशान-साहब खड़ा कर दो और अखण्डपाठ जारी कर दो। बस इतने मात्र से वह स्थान अपना बन गया और उस पर कब्जा करने के लिए तलवारों और बन्दूकों के बल पर कामयाबी हासिल कर ली गई। सिखों के भी अनेक सम्प्रदाय हैं। खासतौर से नामधारी, निरंकारी, उदासी और रामराय आदि, जो हिन्दुओं से अपना अलगाव स्वीकार नहीं करते। परन्तु उनके पूजास्थलों पर भी अकालियों ने अतीत में जबर्दस्ती कब्जा करने का प्रयत्न किया है। स्वयं स्वर्ण मन्दिर में ही हर मन्दिर साहिब के बगल में ही जो उदासीन अखाड़े का ब्रह्म बूटा लगा हुआ था, उसको काटकर उस सारे क्षेत्र को स्वर्ण मन्दिर की परिक्रमा में शामिल कर

दिया। स्व० जनरेल सिंह भिण्डरांवाले ने इस अखाड़े के महत्त्व को बन्दूक के बल पर गही से उतारकर एक ऐसे व्यक्ति को उस गही पर बैठा दिया जो उग्रवादी अकालियों के कहने में चलने वाला था।

दिल्ली में हरेक नई बस्ती में किस प्रकार गुरुद्वारा बनाने के लिए अवैध रूप से कब्जे किए गए हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। स्वयं सरकार द्वारा भी कितने ही स्थानों पर गुरुद्वारा बनाने के लिए जमीन दी गई है। बंगला साहब के पास विशाल सरोवर बनाने के लिए सरकारी जमीन दी गई। बंगला साहब के बाहर सामने की सड़क के काफी बड़े हिस्से पर जबर्दस्ती कब्जा करके उसका प्लेटफार्म बना दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अब सब सवारियों को काफी चक्कर काटकर उधर से गुजरना होता है। दिल्ली के सभी प्रमुख गुरुद्वारों को पूरी तरह किलों की शक्ल दे दी गई है। उनके चारों तरफ ऊँची चहार-दीवारी है और उन दीवारों के ऊपर लोहे की नुकीली सलाखें लगी हैं। यह सब तैयारी किससे रक्षा के लिए की गई है, वह भगवान जाने। परन्तु धार्मिक स्थानों को किला बनाने की मनोवृत्ति के पीछे कौन-सी राजनीति काम कर रही है, इसे आसानी से समझा जा सकता है।

केवल दिल्ली या पंजाब में ही नहीं, उसके बाहर भी अनेक स्थानों पर वन या पर्वत में कहीं भी खाली पड़े स्थानों पर अवैध कब्जा करके वहाँ गुरुद्वारे बना दिए गये हैं। उदाहरण के लिए गढ़वाल में १४ हजार फुट की ऊँचाई पर लोकपाल हेमकुण्ड में, उसके निकट ही घघरिया और पुष्पों की घाटी और गोविन्दघाट में तथा बद्रीनाथ और जोशीमठ में और ऋषिकेश, हरिद्वार आदि स्थानों पर पिछले चन्द सालों के अन्दर ही नये-नये गुरुद्वारे खड़े हो गये हैं। सन् १९३० में एक व्यक्ति को स्वप्न आया कि हेमकुण्ड में गुरु गोविन्द सिंह जी ने जाकर तपस्या की थी और इस स्वप्न के आधार पर वहाँ कई सालों के परिश्रम के बाद शानदार गुरुद्वारा बना दिया गया जो

संसार का सबसे अधिक ऊँचाई पर विद्यमान गुरुद्वारा है। हर साल उस हेमकुण्ड की यात्रा के लिए विशेष यात्री-दलों का आयोजन किया जाता है जिनमें खासतौर से युवकों को ले जाने की व्यवस्था होती है, क्योंकि अभी तक गोविन्द घाट से हेमकुण्ड तक जाने के लिए सिवाय पैदल मार्ग के और कोई साधन नहीं है।

सन् १९२५ में जो कानून बना था उसको देखकर अनेक वरिष्ठ राजनीतिज्ञों ने कहा था कि उस कानून के द्वारा अकालियों को एक समानान्तर सरकार बनाने का मौका दिया जा रहा है। राजीव-लोगोंवाल समझौते के अनुसार यह नया बनने वाला कानून भी उस आरोप से वरी नहीं हो सकता। वह समानान्तर सरकार बनाने की प्रवृत्ति अकाली राजनीति में किस प्रकार समाई हुई है, इसका प्रमाण पिछले कुछ वर्षों का इतिहास है। गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का जो १०-१२ करोड़ रुपये का बजट बनता है, केवल वही राशि सामने आती है। चढ़ावे की अन्य राशि कभी घोषित नहीं की जाती। न ही प्रबन्धक कमेटी के आय-व्यय का कभी आँडिट होता है और न ही उसकी रिपोर्ट कभी पब्लिक या सरकार के सामने आती है। इस समय सरकार ने हिन्दुओं के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों का सरकारीकरण करके उनके आय-व्यय का हिसाब रखना शुरू किया है जबकि यह नया गुरुद्वारा ऐकट बन जाने पर—जिसका आलेख अभी जनता के सामने नहीं आया है—गुरुद्वारों पर सरकार कोई नियन्त्रण कर सकेगी, यह विश्वास नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि—दिल्ली के कई गुरुद्वारों ने वर्षों से बिजली और पानी का बिल नहीं चुकाया है और कोई उन बिलों का भुगतान करने के लिए उन्हें कहने का साहस रहीं करता। गुरुद्वारा ऐकट एक नई समानान्तर सरकार का मार्ग प्रशस्त करने वाला तो सिद्ध नहीं होगा?

## राष्ट्र का स्वरूप क्या है ?

भारत के प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने मानव-जीवन का और सृष्टि का निरीक्षण और परिवीक्षण करने के पश्चात् एक अद्भुत सिद्धान्त का आविष्कार किया था । वह सिद्धान्त था—‘यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे ।’—अर्थात् जो पिण्ड या माईक्रोकौज्म (Microcosm) में है, वही ब्रह्माण्ड या मैक्रोकौज्म (Macrocosm) में है । इस सिद्धान्त के द्वारा व्यक्तिगत रूप से मानव को और समष्टिगत रूप से जगत् को समझने का मार्ग सरल हो जाता है ।

मानव-जीवन तीन चीजों का समुच्चय है—शरीर, मन तथा आत्मा । शरीर के बिना मन और आत्मा के टिकने का कोई आधार नहीं रहता और आत्मा के बिना केवल शरीर निरा मिट्टी है । इसलिए जब तक शरीर में जीवात्मा विद्यमान है, तब तक मनुष्य जीवित रहता है, जीवन के सारे कार्यकलाप करता है और जिस दिन जीवात्मा निकल जाता है या प्राण-पखेरु उड़ जाते हैं, उस दिन उस आत्मा-विहीन और प्राण-विहीन शरीर को स्वयं अपने सगे-सम्बन्धो ही, जो उस व्यक्ति के जीवित रहते उससे इतना अधिक स्नेह रखते थे, शब समझकर श्मशान में ले जाकर अग्नि को समर्पित कर देते हैं । जब तक शरीर और आत्मा का संयोग बना रहता है, तब तक सब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी सक्रिय रहती हैं । तभी तक मन का भी ताना-बाना रहता है । पर जिस दिन वह संयोग टूट जाता है, उस दिन सब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन व्यर्थ हो जाते हैं । मन भी शास्त्रकारों के मतानुसार ११वाँ इन्द्रिय ही है । उसको पाँचों कर्मेन्द्रियों और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में परिगणित नहीं किया जा सकता, इसलिए उसे अलग से ११वाँ इन्द्रिय कहा गया है । उसका कारण

यह है कि मन आत्मा और शरीर के बीच का सन्देशवाहक है। मन ही दोनों को जोड़ता है और मन के माध्यम से ही शरीर की आत्मा पर और आत्मा की शरीर पर प्रतिक्रिया होती है। अगर बीच में यह मन न हो तो केवल ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ—जो शरीर का हिस्सा हैं, संवादहीनता की स्थिति में पहुँच जायेंगी।

जिस प्रकार मानव-जीवन के लिए शरीर, मन और आत्मा इन तीनों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी शरीर, मन और आत्मा होना आवश्यक है। तभी वह जीवन्त राष्ट्र बनता है। राष्ट्र का शरीर क्या है? राष्ट्र का शरीर है वह भूमि-खण्ड जो उसे अन्य देशों से अलग करता है। ऐसे भौगोलिक परिवेश का नाम ही देश है। देश शब्द के अर्थ में यह बात छिपी हुई है कि वह किसी प्रदेश-विशेष या क्षेत्र-विशेष का द्योतक है। चारों दिशाओं में फैले इस भूमिखण्ड का निर्माण बहुत बार राजनीतिक घटनाचक्र के कारण मानव-निर्मित सीमाओं से घिरा होता है और बहुत बार वह ऐसी प्राकृतिक सीमाओं से घिरा होता है, जो उसकी स्वयं ही अन्य देशों से अलग पहचान करवाती हैं। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, उसकी सीमाएँ प्रकृति-प्रदत्त हैं। इसीलिए उसको 'देवभूमि' कहा गया है। दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में हिन्दू-महासागर, पूर्व में बंग सागर और पश्चिम में अरब सागर ये मानव निर्मित नहीं हैं। ये चारों केवल प्रकृति के ही चमत्कार हैं, किसी मनुष्य के नहीं हैं। मनुष्य न हिमालय बना सकता है, न हिन्दू महासागर और न ही अरब सागर या बंग सागर। इसीलिए वेद में कहा गया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—“बर्फ से ढकी हुई चोटियों वाले पर्वत और जगत में जीवन रस का संचार करने वाली नदियों के साथ समुद्र जिसकी महिमा गाते हैं और

दिशा-प्रदिशाएँ जिसकी भुजाओं के समान हैं, उस सुख-स्वरूप परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं।” मनुस्मृति में जो आर्यवर्त की परिभाषा की गई है, वह इन चारों प्रकृति की चमत्कार-स्वरूप सीमाओं से घिरा हुआ भू-खण्ड ही भारत देश है। यही राष्ट्र का शरीर है।

शरीर में जो स्थान मन का है, देश में वही स्थान जन का है। अगर केवल भूमि-खण्ड ही विद्यमान हो और उसमें रहने वाले कोई जन न हों तो वह देश राष्ट्र नहीं कहला सकता। उस देश के निवासी ही उस भू-खण्ड को (जो राष्ट्र का शरीर है), राष्ट्र की आत्मा के साथ जोड़ते हैं। जिस प्रकार शरीर और आत्मा के बीच के संवाद का काम मन करता है उसी प्रकार राष्ट्र के शरीर और आत्मा के बीच संवाद का काम उस देश के निवासी करते हैं। यह जन ही राष्ट्र का मन है। महर्षि पाणिनि ने ‘सोऽस्याभिजनः’ कहकर किसी भी प्रदेश के निवासी को ‘अभिजन’ शब्द की संज्ञा दी है। उसी को हम यहाँ जन कह रहे हैं।

अब राष्ट्र की आत्मा क्या है, इस पर विचार करें।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय राष्ट्र की आत्मा वैदिक संस्कृति है। उसी को वैदिक धर्म या उसके मिलावटी रूप को हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति कहना चाहिए। वैसे हम हिन्दू शब्द को धर्मवाचक होने के बजाय राष्ट्रवाचक ही अधिक मानते हैं। परन्तु भाषा के शिथिल प्रयोग के कारण और कुछ इतिहास की अनभिज्ञता के कारण, तथा कुछ विदेशियों द्वारा वैसा प्रचार किये जाने के कारण आम जनता ने अपने व्यवहार में हिन्दू शब्द को धर्मवाचक मानकर इसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। हम जिसे वैदिक संस्कृति कह रहे हैं, वही इस भारत की आत्मा है, वह इसका प्राण है। जिस तरह आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण हो जाता है, उसी प्रकार इस वैदिक संस्कृति के बिना भारत निष्प्राण है।

ऋषि दयानन्द ने बार-बार एक वाक्य-खण्ड का प्रयोग किया है—‘ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त’। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त की कालावधि कितनी है, इस पर बहस हो सकती है। परन्तु यह निश्चित है कि वह अवधि हजारों सालों से कम नहीं है। हमारे इतिहासकार, चाहे वे भारतीय मूल के हों, चाहे विदेशी मूल के—प्रायः भारतीय इतिहास का प्रारम्भ महात्मा बुद्ध के काल से करते हैं और उससे पहले के काल को प्रागैतिहासिक काल की कोटि में डाल देते हैं।

आश्चर्य है कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् के ढाई हजार वर्षों के इतिहास पर तो इतनी ऊहापोह होती है, पर उससे पहले के हजारों वर्षों के इतिहास को इतिहास-कोटि में ही नहीं गिना जाता। बहुत हुआ तो इतिहासकार महाभारतकाल तक तो पहुँच जाते हैं, जो उनकी दृष्टि से तीन हजार साल परन्तु हमारी दृष्टि से पाँच हजार साल पहले की घटना है। कहाँ हजारों सालों का इतिहास और कहाँ वह ढाई-तीन हजार साल का इतिहास। प्रश्न यह है कि महात्मा बुद्ध से पहले, सृष्टि के आदि से लेकर हजारों सालों तक, जिस विचारधारा और संस्कृति ने इस देश को जीवित रखा है, वह केवल वैदिक संस्कृति ही है या नहीं? जब अन्य धर्मों या धार्मिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, तब वैदिक धर्म ही सर्वत्र छाया हुआ था।

सच तो यह है कि वैदिक धर्म से भिन्न किसी अन्य मत को धर्म नाम से सम्बोधित करना ही बहुत बड़ी भूल है। जितने अन्य मत-मतान्तर हैं, वे व्यक्ति-विशेष पर निर्भर हैं। परन्तु वैदिक धर्म किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं, वह तो ऋषियों के द्वारा प्रकाशित परमात्मा द्वारा प्रदत्त, ज्ञान का उन्मेष है। अन्य मत वर्ग-विशेष के लिए, स्थान-विशेष के लिए या अपने कर्म-काण्ड के लिए, अपनी अलग पंहचान स्थापित करते हैं, परन्तु वैदिक धर्म देश और काल से अनवच्छिन्न

रहकर समस्त मानव मात्र के जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए न केवल ज्ञान-विज्ञान का, प्रत्युत सम्पूर्ण नैतिकता का भी आधार प्रदान करता है। इसीलिए हम कहते हैं कि मत-मतान्तर या मजहब या रिलीजन, अनेक हो सकते हैं। परन्तु धर्म केवल मानव-मात्र का एक ही हो सकता है। वह धर्म कौन-सा हो सकता है, यह भी न केवल इतिहास के द्वारा बल्कि तर्क के द्वारा और अब तक प्राप्त की गई समस्त खोजों के द्वारा परिपुष्ट वैदिक धर्म ही है, अन्य कोई नहीं। यह वैदिक विचारधारा ही इस भारत राष्ट्र की मूल आत्मा है और बाकी अन्य जितने मत-मतान्तर हैं, वे उस पर पड़ी हुई छाया या गर्द-गुबार के समान हैं।

इस प्रकार भारत का भूमि-खण्ड, भारत का जन और भारत की आत्मा अर्थात् उसकी संस्कृति—ये तीनों मिलकर भारत राष्ट्र का निर्माण करते हैं। अगर इनमें से एक भी कड़ी टूट जाये तो केवल राष्ट्र की रक्षा ही नहीं, बल्कि उसका अस्तित्व भी कठिन है। हमारे देश का दुर्भाग्य यह है कि न तो हमने भारत के समस्त भूमि खण्ड की सही रूप से पहचान की है, न ही भारत के जन ने अपने नागरिक कर्तव्यों को समझा है और न ही राष्ट्र की प्राण-स्वरूप अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति को ही हृदयंगम किया है। हमने ऊपर भारत की सीमाओं को देव-निर्मित अर्थात् प्रकृति-प्रदत्त कहा है। परन्तु व्यवहार में हमने बाधा और अटारी को अपनी देश की सीमा मान रखा है। बाधा और अटारी मनुष्यकृत सीमाएँ हैं, प्रकृति प्रदत्त नहीं। इसलिए भारत की राष्ट्रीयता में खण्डित भारत का नहीं, अखण्ड भारत का ही स्थान है। अखण्ड भारत ही राष्ट्रीय इतिहास की विरासत है।

जहाँ तक जन का सम्बन्ध है, किसी राष्ट्र की रक्षा के लिए जब तक उसके नागरिक दीक्षा और तप नहीं करते, तब तक वह राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। दीक्षा अर्थात् राष्ट्र की रक्षा का संकल्प,

और तप अर्थात् राष्ट्र की रक्षा के लिए सब तरह के कष्ट सहने की तत्परता।

जब तक हम भारत के इस सही राष्ट्रीय स्वरूप को नहीं समझेंगे, तब तक राष्ट्र की रक्षा हमेशा सन्देहास्पद बनी रहेगी। भारत के भूखण्ड के प्रति भारतीय जनता का अनुराग पैदा हो और वह जन अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति से प्रेरणा लेकर संकल्प करने और कष्ट सहने के लिए प्राणवान् बने, तभी राष्ट्र की रक्षा हो सकती है।

[ ७ दिसम्बर, १९८६ ]

## फिर वही अन्धी गली

नवम्बर का अन्त और दिसम्बर की शुरूआत कुछ ऐसे त्रासदायक ढंग से हुई कि उसने सारे देश को विचलित कर दिया। ३० नवम्बर को होशियारपुर के निकट खड़ा गाँव में २४ बेकसूर यात्रियों की निर्मम हत्या, उसी दिन शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष के रूप में तोहड़ा का चुनाव, उसके दो दिन बाद बादल और तोहड़ा की गिरफ्तारी, फिर ५ दिसम्बर को गुरु तेगबहादुर के शहीदी दिवस पर सी० आर० पी० के तीन जवानों की हत्या और अन्य चार व्यक्तियों का पुलिस की गोली से मारा जाना—इनमें से कौन-सी दुर्घटना बड़ी है, यह कहना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि अब तक जो लोग यह कहते आये थे कि पंजाब में आतंकवादी अन्य सारे समाज से अलग-थलग पड़ चुके हैं और सर्वथा हताश हो गये हैं तथा आतंकवाद समाप्ति के निकट आ गया है—उनके सब बयान झूठे साबित हो चुके हैं।

जो कुछ हो रहा है वह हताश होकर पागलपन में हाथ-पैर चलाने की बात नहीं है। वह सब किसी सुनियोजित चाल और जाल के तहत हो रहा है। वह चाल यही है कि पंजाब में किसी-न-किसी तरह निर्दोष हिन्दुओं की हत्या करके उनमें सिखों के प्रति बदले की भावना पैदा की जाए जिससे पंजाब के बाहर भी मारकाट मचे और बाहर के सिख बड़ी संख्या में भागकर पंजाब पहुँचे। उधर पंजाब से भागकर हिन्दू देश के अन्य हिस्सों में चले जायें। आतंकवादियों की इन गतिविधियों को पाकिस्तान की कितनी शह है, इस पर बहस करना बेकार है। भारत में अस्थिरता पैदा करना पाकिस्तान की पुरानी नीति है इसलिये इस काम के लिए वह अपनी ओर से कोई

कसर उठाकर नहीं रखना चाहता, मुँह से भले ही कुछ भी कहता रहे।

३० नवम्बर को दरवार साहिब के तेजासिंह समुन्दरी हाल में जब शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष पद के चुनाव के लिए लोग एकत्रित हुए तभी इस बात का आभास हो गया था कि पन्थिक राजनीति का पलड़ा किस ओर झुकने वाला है। मतदान के समय बरनाला समर्थित कार्यकारी अध्यक्ष सरदार काबुल सिंह को प्राप्त ५८ मतों के मुकाबले बागी अकालियों तथा कटृपन्थियों के साझे उम्मीदवार गुरुचरण सिंह तोहड़ा को ७४ मतों से विजयी घोषित कर दिया गया। पुलिस की मौजूदगी के बावजूद सारे परिसर पर उग्रवादी पहले ही कब्जा कर चुके थे। तोहड़ा की विजय के पश्चात् पूरा हाल 'जो बोले सो निहाल' के घोष से मंज गया। अभी इस गूँज की अनुगूँज अमृतसर की हवा में मन्द भी नहीं पड़ी होगी कि उसके चार घण्टे बाद ही वहाँ से ४५ किलोमीटर दूर खुड़ा गाँव के बाहर आतंकवादियों ने २४ निहत्ये बस-यात्रियों को लाइन में खड़ा करके जिस निर्ममता से भून दिया, वैसा घिनौना हत्याकाण्ड पिछले ५ साल में भी नहीं हुआ था। यह पहला अवसर था जब आतंकवादियों ने तीन महिलाओं को भी अपनी गोली का शिकार बनाया। भारतीय संस्कृति में महिलाओं को अवध्य माना गया है। किसी युद्ध के कायदे-कानून में भी महिलाओं पर हाथ उठाना वर्जित है। परन्तु आतंकवादी कहते ही उसको हैं जो किसी प्रकार की वर्जना को स्वीकार न करे।

तोहड़ा की जीत के सर्वप्रमुख सूत्रधार श्री बादल ने इस निर्मम काण्ड की प्रथम प्रतिक्रिया के रूप में यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि तोहड़ा की जीत में और खुड़ा हत्याकाण्ड में कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जिस ढंग से एक के बाद एक घटनाएँ हुईं उसे देखते हुए घटनाओं में कार्यकारण का सम्बन्ध जोड़ना कठिन नहीं है। २५ जुलाई को मुक्तसर में भी इसी प्रकार १४ बस यात्रियों को बस से

उत्तारकर गोली से उड़ा दिया गया था। अब इस खृड़ा काण्ड में वह संघ्या १४ से २४ हो गई। उससे पहले तोहड़ा के चुनाव ने एक बार फिर स्पष्ट कर दिया कि लोंगोवाल पंजाब की राजनीति को जिस अन्धी गली से निकालकर लाये थे, पंजाब की राजनीति फिर इसी अन्धी गली की ओर चल पड़ी है।

पिछले १३ साल में इस साल के सिर्फ आठ महीने ऐसे गुजरे हैं जब तोहड़ा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष नहीं रहे। मार्च द६ से लेकर नवम्बर द६ तक के ये महीने भी बरनाला सरकार के लिए कोई कुशल-मंगल के नहीं रहे। अब तोहड़ा की वापसी से आशा की रही-सही किरण भी समाप्त हो गई है। प्रबन्धक कमेटी के चुनाव में बादल और अमरिन्दर सिंह ने भले ही तोहड़ा का साथ दिया हो, परन्तु उन दोनों से दिल पर हाथ रखकर पूछा जाये तो वे भी यह स्वीकार करेंगे कि तोहड़ा पर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। तोहड़ा हमेशा जिस तरह पलटी खाते रहे हैं उसे बादल से बढ़कर कौन जानता होगा? जब बादल स्वयं मुख्यमन्त्री थे तो तोहड़ा ही ने तो उनकी नींद खराब कर दी थी। पटियाला राजवंश के कैप्टन अमरिन्दर सिंह तो हाल ही में राजनीति में आये हैं, परन्तु इससे पहले तक तोहड़ा उनके केवल राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं बल्कि लगभग दुश्मन ही रहे हैं। अमरिन्दर सिंह, राजीव गांधी और संजय गांधी बचपन से दोस्त रहे, इन्दिरा गांधी को मम्मी कहते रहे, तीनों साथ-साथ पढ़े और अमरिन्दर सिंह ने संसद सदस्य के पद पर पहुँचने तक कांग्रेस के माध्यम से ही राजनीति शुरू की। उनकी मानसिक बनावट तोहड़ा से रक्तीभर भी नहीं मिलती। परन्तु समय का कैसा फेर है कि वही बादल और वही अमरिन्दर सिंह दोनों तोहड़ा के समर्थक बन गये। यह इस बात की निशानी है कि विभिन्न गुटों के अकाली नेता बिना किसी दीन-ईमान के केवल अवसरवाद की राजनीति खेलते हैं। इसलिये उनमें से कोई भी नेता ऐसा नहीं जिसकी ईमान-

दारी पर देशवासी विश्वास कर सकें ।

यही तोहड़ा थे जिन्होंने भिड़रांवाले को अकाल तख्त पर कब्जा करने दिया था । यही तोहड़ा थे जो ब्लू स्टार आप्रेशन के बाद बिना आहत हुए सेना के आगे आत्मसमर्पण कर चुके थे । यही तोहड़ा थे जिन्होंने करोड़ों रुपयों की लागत से बने अकाल तख्त को गिरवाया था । उसके बाद अकाल तख्त के गुम्बद पर लगे सोने के पत्तरों के गायब होने की जिम्मेवारी भी कुछ लोग तोहड़ा पर डालते रहे । तोहड़ा जानते हैं कि अकाली राजनीति में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का कितना महत्त्व है । इसलिए वे फिर अपनी जोड़-तोड़ से प्रबन्धक कमेटी पर कब्जा करने में कामयाब हो गये ।

अकाली राजनीति में तोहड़ा इतने अपरिहार्य क्यों हैं ? इसलिए कि हर परिस्थिति का लाभ उठाने में और रंग बदलने में उनको कोई और मात नहीं दे सकता । इसका भी मुख्य कारण यही है कि अकाली राजनीति अवसरवाद की राजनीति है और इसमें वही खिलाड़ी जीतता है जिसका कोई अपना दीन-ईमान नहीं होता ।

उसके बाद गुरु तेगबहादुर के शहीदी दिवस पर जो कुछ हुआ उसमें भी अकाली राजनीति का दोगलापन हावी रहा । दिल्ली के सब अकाली नेता आपस में बँटे हुए हैं । कुछ सत्ता के साथ हैं और कुछ पंजाब के विद्रोही अकाली नेताओं के साथ । दिल्ली से कुछ अकाली नेता बरनाला के उम्मीदवार के विरोध में तोहड़ा को जिताने के लिए दिल्ली से भेजे गये । इसमें सबसे अधिक दुःखदायक बात यह है कि इस राजनीति में केन्द्रीय गृहमन्त्री का नाम भी लपेटा जा रहा है । शायद यही कारण था कि इस बार संसद में होशियारपुर के हृत्याकाण्ड के सम्बन्ध में पंजाब सरकार और केन्द्रीय सरकार की विफलता पर अपना रोष प्रकट करते हुए स्वयं कांग्रेसी सांसदों ने गृहमन्त्री के इस्तीफे की पुरजोर माँग की थी । यह माँग इतनी जोर-दार थी कि स्वयं प्रधानमन्त्री अपने संगठन के आन्तरिक विद्रोह से

विचलित हो उठे और अगले दिन गृहमन्त्री के इस्तीफे की माँग करने वाले सांसदों को बुलाकर उन्होंने जवाब-तलब किया।

दिल्ली के अकाली नेता किस प्रकार आपसी फूट के शिकार हैं, उसका एक प्रमाण यह है एक तरफ से शहीदी दिवस पर जुलूस निकालने की घोषणा का विज्ञापन अखबारों में छपवा रहे थे और दूसरी ओर उपराज्यपाल के पास जाकर जुलूस न निकालने की बात मान आये थे एवं अपनी नाक बचाने के लिए पहले उठा लिए गये कपर्फ्यू को दुबारा लागू करने का परामर्श उन्हें दे आये थे। सी० आर० धी० के तीन जवानों को हत्या के बाद भी दिल्ली के अकाली नेताओं ने, जिनमें से एक तारासिंह गुट के हैं, दूसरे लोंगोवाल गुट के हैं, तीसरे बादल-तोहड़ा गुट के हैं, और चौथे सत्ता के इशारे पर चलने वाले हैं, परस्पर विरोधी बयान दिये हैं।

बरनाला पंजाब को लोकतन्त्र के रास्ते पर डालने में भले ही कामयाब हो गये हों, परन्तु आतंकवाद की समाप्ति में वे समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं भी अकालियों की इस अवसरवादी नीति के एक सूत्रधार हैं। वे बार-बार लोंगोवाल समझौते पर केन्द्र द्वारा अमल न किये जाने को आतंकवाद की वृद्धि का कारण बताते हैं। वे स्वयं सतलुज-यमुना लिंक नहर के सम्बन्ध में और चण्डीगढ़ के एवज में हरियाणा को भूमि देने के सम्बन्ध में, समझौते की शर्तों से बँधे हुए थे। उन्होंने उसे आज तक पूरा नहीं किया। केवल अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए ही वे केन्द्रीय सरकार को दोष देते रहे। लेकिन घटना-चक्र ने स्पष्ट कर दिया है कि तोहड़ा की विजय के साथ वे राजनीति की शतरंज में मात खा चुके हैं और घटनाओं पर उनका नियन्त्रण नहीं है। लोंगोवाल की शहादत की बदौलत वे सत्ता में आए थे, पर बादल और तोहड़ा ने मिलकर उस शहादत को व्यर्थ कर दिया है। अब पंजाब फिर उसी अन्धी गली में पहुँच गया है जिसमें ब्लू स्टार आप्रेशन से पूर्व था।

## देश को कौसा नेता चाहिए ?

देशवासी यह बात भलीभाँति जानते हैं कि सेठ जुगल किशोर बिरला जहाँ दानवीर थे, जहाँ बड़े पक्के हिन्दुत्ववादी भी थे। हमेशा महात्मा गांधी तथा अन्य बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता जब भी दिल्ली आते तो प्रायः उनके निवास स्थान पर ही ठहरते और उनका आतिथ्य भी ग्रहण करते, परन्तु वे अपनी हिन्दुत्ववादी विचारधारा से कभी टस से मस नहीं हुए। एक बार उनसे लम्बी बातचीत के प्रसंग में उन्होंने अपने मन की बात इस प्रकार प्रकट की; “हमें यदि आर्य-समाजी नेता चाहिए तो स्वामी श्रद्धानन्द जैसा और यदि सनातनी नेता चाहिये तो पं० मदनमोहन मालवीय जैसा।” उनकी दृष्टि में न केवल हिन्दू जाति का बल्कि देश का उद्धार भी ऐसे ही नेताओं से सम्भव था।

हमने उनकी बात पर जब कुछ गहराई से विचार किया तो समझ में आया कि उन्होंने इन दोनों नेताओं का नाम क्यों लिया। ये दोनों नेता केवल हिन्दुत्ववादी ही नहीं थे, बल्कि प्रखर राष्ट्रवादी भी थे और राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता और राष्ट्र के ओज के भी प्रतिनिधि थे। आर्यसमाज में ऐसे महानुभावों की कमी नहीं है जो राष्ट्र की दृष्टि से अत्यन्त क्षुद्र बातों पर अनावश्यक बहस करते रहते हैं और अपना सारा समय उसी वाद-विवाद में लगा देने को ही अपनी कृत्कार्यता समझते हैं। क्या आज राष्ट्र को उन आर्य नेताओं की आवश्यकता है जो इस बारे में माथापच्ची करते रहें कि मुक्तात्मा जीव कितने वर्षों तक मोक्ष की अवस्था में रहते हैं? या ऐसे नेताओं की आवश्यकता है जो वृक्षों में जीव है या नहीं इस बात के पक्ष-विपक्ष में तर्कों के अम्बार इकट्ठे करते हैं? या ऐसे विद्वान्

चाहिएँ जो इस बात पर विवाद करते रहें कि वेद पाठ करते हुए मन्त्रों के प्रारम्भ में 'ओ३म्' लगाना चाहिए या नहीं लगाना चाहिए ? या ऐसे कर्मकाण्डी विद्वानों को नेतृत्व सौंपा जाय जो इस विवाद में उलझे रहें कि यज्ञ कुण्डों की अधिकतम संख्या कितनी हो सकती है ? या ऐसे बाल की खाल निकालने वाले लोग चाहिएँ जो इस बात पर बहस करते रहें कि जीवात्मा का मुख्य स्थान हृदय प्रदेश है या मस्तिष्क है ? इस प्रकार के अनेक विवादास्पद मुद्दे हो सकते हैं और उन पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना भी आवश्यक हो सकता है, परन्तु हमारा पूछना यह है कि राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के वाद-विवादों में जनता को उलझाए रखने से क्या किसी राष्ट्र-हित की सिद्धि होगी ?

दूसरी ओर हमारे सनातनी नेता हैं जो शंकराचार्य जैसी पूज्यास्पद गदी पर प्रतिष्ठित हैं, अपने आपको हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में घोषित करते हैं, सोने-चाँदी के बर्तनों में भोजन करते हैं। जब किसी सार्वजनिक मंच पर उपस्थित होते हैं तो एक पट्ट शिष्य लगातार दस मिनट तक संस्कृत में केवल उनकी प्रशस्ति ही सुनाता चला जाता है, परन्तु ये कभी हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए एकत्रित नहीं होते। जैसे अपनी-अपनी रियासतों के वे राजा हैं, और इसीलिए 'हम च मा दीगरे नेस्त' वाली मनोवृत्ति की अहमहमिका में ऐंठे रहते हैं। क्या आज के युग में हिन्दू समाज को या राष्ट्र को उन सनातनी नेताओं की आवश्यकता है, जो सती-प्रथा का समर्थन करते हैं ? क्या हिन्दू समाज उन नेताओं को और धर्म-धुरन्धरों को अपने सिर पर बैठाकर उनकी चरण बन्दना करने को तैयार होगा जो बाल-विवाह का समर्थन करते हैं और विधवा विवाह का विरोध करते हैं ? आज भी जो सन्त-महन्त हरिजनों को अस्पृश्य मानने की बात करते हैं और स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार देने को तैयार नहीं हैं, क्या बैंड बाजे के साथ भव्य शोभा-यात्रा निकालकर ऐसे

महानुभावों का अभिनन्दन किया जाय ? मन्दिरों में अछूतों के प्रवेश को या गैर-हिन्दुओं के प्रवेश को वर्जित ठहराने वाले, मानव की अवहेलना करके जड़ पूजा को प्रश्रय देने वाले धर्मधुरीणों को लेकर राष्ट्र कितना आगे बढ़ सकेगा ? आज भी जो दकियानूसी शंकराचार्य यह कहते नहीं अघाते कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा नहीं करती, सूर्य ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उनको कोई शिक्षित व्यक्ति कैसे नेता मान लेगा ? वैज्ञानिकों के विशुद्ध प्रलाप करने वाले ऐसे धार्मिक नेता भी हैं जो यह कहते हैं कि चन्द्रमा पर मानव के पहुँचने की बात सरासर गलत है, असली चन्द्रमा पर तो कभी कोई पहुँच ही नहीं सकता । क्या इस प्रकार अपने आसन का शरासन बनाकर अन्ध-विश्वासों के प्रचार में प्रयोग करने वाले धर्मचार्यों को राष्ट्र अपना नेता माने ?

इन आर्य समाजी और सनातनी धार्मिक नेताओं की बात छोड़ दें तो देश के अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं के सम्बन्ध में सोचकर देखें कि उनकी दृष्टि में दल-हित प्रमुख है या राष्ट्र-हित प्रमुख है ? पंजाब के सम्बन्ध में केवल अकालियों के गुटीय नेता श्री लोंगोवाल से समझौता करना और पंजाब के किसी हिन्दू नेता को उसमें शामिल न करना, या हरियाणा और राजस्थान के सम्बन्ध में इन दोनों राज्यों के मुख्यमान्त्रियों से बिना परामर्श किए समझौते पर हस्ताक्षर करना क्या राष्ट्र की दृष्टि से दूरदर्शिता कहलायेगी ? क्या 'गोरखा-लैण्ड' के आन्दोलन को राष्ट्रद्वाही कहने से नकारना राष्ट्र की अखण्डता में सहायक होगा ? क्या विकास के नाम पर देश को पश्चिमी देशों का और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बन्धक बनाने से देश प्रगति करेगा ? औद्योगिक क्रान्ति के नाम पर ग्रामीण उद्योग-धन्वों को चौपट करना और एक तरफ अन्धाधुन्ध जंगलों को काटना तथा दूसरी तरफ पर्यावरण को बचाने के लिए शोर मचाना, क्या इसमें कोई बेतुकापन नहीं है ? परिवार-नियोजन के प्रचार से और

सिनेमा और दूरदर्शन के माध्यम से निरन्तर कामवासना भड़काने वाले और अश्लील विज्ञापनों से क्या राष्ट्र के लिए बलिदान करने वाली पीढ़ी तैयार हो सकेगी ? बात-बात में सम्प्रदाय निरपेक्षता का राग अलापना पर अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार प्रदान करना क्या राष्ट्रहित में है ? क्या साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनीतिक पार्टी की मान्यता देना और उन्हें चुनाव लड़ने का अधिकार देना संविधान में घोषित संक्युलरिज्म की साक्षात् अवहेलना नहीं है ? एक ओर हम जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करने का नारा लगाते हैं, परन्तु हमारे सारे चुनाव जातीय और साम्प्रदायिक आधार पर नहीं होते हैं क्या ?

हमारे राजनीतिक नेता कदम-कदम पर दुहाई लोकतन्त्र की देते हैं, परन्तु चलाते हैं—‘वंशतन्त्र’। राजतन्त्र को सब गालियाँ देते हैं और समस्त नेता लोकतन्त्र को सबसे अच्छी राज्य प्रणाली घोषित करते हैं। लोकतन्त्र का हामी होने के कारण और सारे संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र होने के कारण हम अपने देश पर गर्व भी करते हैं, परन्तु यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि लोकदल के जो नेता जीवन भर ‘वंशतन्त्र’ को कोसते रहे वे स्वयं भी अपना ‘वंशतन्त्र’ चलाने से बाज नहीं आये। अगर सच पूछा जाय तो यह वंशतन्त्र, राजतन्त्र से किसी भी दृष्टि में कम नहीं है, बर्कि वह कई अंशों में राजतन्त्र से भी अधिक हानिकारक है।

जहाँ तक विपक्षी दलों के राजनीतिक नेताओं का सम्बन्ध है, उनके बारे में कुछ न कहना ही ठीक है। उनके सामने राष्ट्र के लिए न कोई भावी योजना है, न ही कोई परिपुष्ट और स्पष्ट विचार-धारा और न ही दलीय हित से आगे उनकी कोई आकांक्षा है। वे कांग्रेस का विकल्प बनने की घोषणा तो करते हैं, परन्तु वे किसी-न-किसी रूप में कांग्रेस की कार्बन-कापी मात्र बनकर रह गए हैं। उनकी सबसे बड़ी राजनीति केवल यही है कि केन्द्र सरकार की

असफलताओं की घोषणा करते रहें और उसकी कमियाँ बताते रहें परन्तु उनके सामने न कोई अपना विशेष कार्यक्रम है और न ही राष्ट्रहित के लिए उनके पास कोई ऐसा सुझाव है, जिससे राष्ट्र के निवासी निश्चन्त होकर अपनी बागडोर उनके हाथों में सौंपने को तैयार हो जायें।

ऐसे समय स्वामी श्रद्धानन्द की याद आती है। स्वामी श्रद्धानन्द को अभी तक कुछ लोगों ने केवल आर्यसमाज के नेता के रूप में चित्रित किया है और एक मुसलमान द्वारा उनकी हत्या कर दिए जाने के कारण उनको साम्प्रदायिक नेता कहने में भी कुछ लोग संकोच नहीं करते। परन्तु सच पूछिए तो आज राष्ट्र को जैसा सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक नेता चाहिए, उसकी सारी आवश्यकताएँ केवल स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व में ही परिलक्षित होती हैं। आज सिख अपने आपको हिन्दुओं से अलग मानते हैं। और तो और रामकृष्ण मिशन वालों ने भी न्यायालय से निर्णय ले लिया कि 'हम हिन्दू नहीं हैं।' इसाई और मुसलमान तो अपने आपको भिन्न धर्मविलम्बी होने के कारण हिन्दू कहने को तैयार ही नहीं होते। वे नहीं जानते कि हिन्दू शब्द धर्म-बोधक नहीं, राष्ट्र-बोधक है और जहाँ-जहाँ अपने आपको हिन्दू न कहने की परम्परा चल पड़ती है वहाँ-वहाँ आन्तरिक विष की तरह अराष्ट्रीयता की भावना भी अनायास पनपती जाती है।

स्वामी श्रद्धानन्द जैसा असाम्प्रदायिक और राष्ट्रवादी नेता कौन होगा जो सिखों के 'गुरु का बाग' आन्दोलन में स्वयं सत्यग्राही बनकर जेल जाता है। सिख कितना ही कहते रहें कि हम हिन्दू नहीं हैं, परन्तु जब तक स्वामी श्रद्धानन्द का यह अनुपम उदाहरण विद्यमान है, तब तक उनके सब व्यापार झूठे हैं। इसी प्रकार हिन्दू मुस्लिम एकता के पक्षपाती के रूप में जामा मस्जिद के मिम्बर पर से स्वामी श्रद्धानन्द का हिन्दुओं और मुसलानों को एक साथ सम्बो-

## २१८ : असलियत क्या है

धित करना राष्ट्र के स्वाधीनता संघर्ष का एक अद्भुत उदाहरण है। दलितोद्धार के लिए भी जवानी जमा खर्च नहीं, किन्तु सक्रिय आचरण करने वाले और अपनी सब सन्तानों के लिए जांत-पांत तोड़कर विवाह करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द के सिवाय और किसका उदाहरण हम पेश कर सकते हैं? रही शुद्धि आन्दोलन की बात। जो लोग अपने मजहब को आलमगीर बताकर तबलीग छोड़ने को तैयार नहीं, उनका सही उत्तर यदि शुद्धि आन्दोलन नहीं तो और क्या है? इस खरेपन में भी स्वामी श्रद्धानन्द एकाकी नजर आते हैं। रही हिन्दू संगठन की बात, अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों के पोषक दकियानूसी धार्मिक नेताओं के वश की बात नहीं है वह। वह भी केवल स्वामी श्रद्धानन्द ही कर सकते हैं। कौन से स्वामी श्रद्धानन्द? वही ओज और तेज की पूर्ति और वीरता के साक्षात् अवतार श्रद्धानन्द सन्यासी जो दिल्ली के चाँदनी चौक में गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोलकर खड़ा हो जाता है। अन्त में राष्ट्र और धर्म के लिए बलिदान करने वाली नई पीढ़ी कैसे तैयार हो सकती है, गुरुकुल प्रणाली का पुनरुद्धार करके इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित करने वाला भी स्वामी श्रद्धानन्द के सिवाय और कौन है? इसलिए हम कहते हैं कि राष्ट्र को जैसा नेता चाहिए उसके सारे लक्षण स्वामी श्रद्धानन्द में घटित होते हैं।

[ २८ दिसम्बर, १९८६ ]

## हिन्दू और सिख में दरार किसने डाली

हिन्दू और सिख में दरार किसने डाली ? इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सिख इतिहासकारों ने आर्यसमाज को दोषी ठहराया है। परन्तु यह बात असलियत से कोसों दूर है। फिर यह मिथ्या भ्रम और प्रवाद कैसे फैला ? क्यों फैला ? और ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं ? इसका विशद विवेचन लेखक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Storm in Punjab' के एक अध्याय में किया है। उसी अध्याय का हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है। उसका गुरुमुखी में अनुवाद प्रकाशित करके विभिन्न सिख संस्थाओं को वितरित किया गया था।

अधिकांश सिख इतिहासकार बार-बार यह कहते हैं कि पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों के बीच में विरोध और वैमनस्य का बीज बोने वाला आर्यसमाज है। सिंख नेता कहते रहे हैं कि हम जितनी धार्मिक और राजनीतिक माँगें करते हैं उनका विरोध न मुसलमान करते हैं, न ईसाई, अधिकांश हिन्दू भी उनके विरोध में कुछ नहीं कहते, परन्तु आर्यसमाजी बुद्धिजीवी और पत्रकार उनके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर देते हैं और अपने प्रभाव से भारत सरकार को तथा अन्य राजनीतिक नेताओं को उन माँगों के विरुद्ध कर देते हैं।

एक अंग्रेजी की सिख पत्रिका ने तो यहाँ तक लिखा कि सारे भारत में किसी राज्य की किसी भी भाषा की कोई भी पत्र-पत्रिका हो, यदि उसमें अकालियों की माँगों के और उनके आन्दोलन के विरुद्ध कुछ भी लिखा होता है; तो लिखने वाला आर्यसमाजी होगा या आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित व्यक्ति होगा। डॉ महीप सिंह ने

धर्मयुग में लिखा था —“आर्यसमाज के आगमन से पहले पंजाब के हिन्दुओं के बीच सिख-मत ही नई चेतना का संवाहक था और वह सनातनी हिन्दू-धर्म के साथ जुड़ा-जुड़ा चला जाता था।” सिख बुद्धि-जीवियों द्वारा पैदा की जाने वाली यह नई श्रान्ति है और वर्तमान राजनीति का नया मिथक है। प्रसिद्ध पत्रकार सरदार खुशवन्त सिंह ने एक निजी बातचीत में कहा था—“अपने समाज सुधार समर्थक, पाखण्ड विरोधी और प्रगतिशील विचारों के कारण सिखों और आर्य-समाजियों को सबसे अधिक निकट होना चाहिए था, पर मैं हैरान होता हूँ कि यही दोनों आज सबसे अधिक दूर हैं।”

इस दूरी और अलगाव के कारणों की खोज करनी होगी और असलियत का पता लगाना होगा, क्योंकि जब तक यह मानसिक ग्रन्थ दूर नहीं होती, तब तक आन्तरिक विद्वेष बना रहेगा, जो पंजाब के लिए किसी भी तरह हितकारक नहीं हो सकता। इसके लिए पिछला इतिहास टटोलना होगा।

### आर्यसमाज के जन्म से पहले

ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ में की। सन् १८८३ में उनका स्वर्गवास हो गया। ‘सत्यार्थप्रकाश’ भी सन् १८७५ में ही प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसलिए इससे पूर्व यदि आपसी अलगाव की कोई घटना मिले तो उनके लिए आर्यसमाज या ऋषि दयानन्द को दोष देना सर्वथा अन्याय होगा।

अकबर के समय (१६वीं सदी का उत्तरार्द्ध, अकबर का निधन १५ अक्तूबर, १६०५ को हुआ) की घटना है। अकबर ने अपने प्रभावशाली मन्त्री राजा वीरबल को युसुफजई के पठानों के दमन के लिए भेजा। अकबर के आदेश से उसने मार्ग में हिन्दुओं पर एक रूप्या प्रति व्यक्ति कर लगाया और अमृतसर में उसकी वसूली का प्रयत्न किया। उस समय अमृतसर में खत्रियों ने, जो गुरु अर्जुनदेव के

अनुयायी थे, और स्वयं गुरुजी ने, बीरबल के कारिन्दों के सामने स्पष्ट किया—“हम हिन्दुओं से अलग सम्प्रदाय हैं, हम पर टैक्स नहीं लगना चाहिए।” राजा बीरबल ने उनकी बात नहीं मानीं -

—ए हिस्ट्री आफ सिक्ख पीपुल ले. गोपाल सिंह, पृष्ठ १७७

श्री हरवंश सिंह दोआबिया ने ‘सेकेड नित नेम’ (पृष्ठ ३१२) में सिक्ख मत में आचरण के लिए जो बातें दी हैं, उनमें ये भी हैं—

(क) पथर की मूर्तियों, चित्रों, कब्रों तथा मृत-प्राणी की पूजा न करना ।

(ख) देवी-देवताओं की पूजा न करना ।

(ग) योग तथा तपस्या के मार्ग पर न चलना ।

इसके अलावा सन् १७१२ में प्रसिद्ध गुरुभक्त भाई नन्दलाल ने ‘तनखाहनामा’ में जो दोहा दिया है—

राज करेगा खालसा आकी रहे न कोय ।

ख्वार होय सब मिलेंगे बचे सरन जो होय ॥

इसमें ‘राज करेगा खालसा’ का नारा क्या स्पष्ट रूप से अलगाव का घोतक नहीं है ?

इस प्रकार के और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अलगाव का बीज आर्यसमाज ने नहीं बोया, सिक्ख मानसिकता में वह पहले से ही विद्यमान था। पर यह सत्य है कि पृथकता की यह भावना अधिक चल नहीं पाई। हिन्दू-सिख एक ही समाज के अभिन्न अंगों की तरह काम करते रहे। परन्तु जब सन् १८४७ में अंग्रेजों ने पंजाब पर अधिकार कर लिया तब स्थिति बदल गई। पहले तो उन्होंने सिक्खों का दमन किया परन्तु जब सन् १८५७ के गदर में उन्हें क्रान्तिकारियों के विरोध में सहायता की आवश्यकता हुई, तब सिख मानसिकता में अन्तर्निहित इस पृथक्ता की भावना के अंकुर को खाद-पानी देना शुरू किया। सन् १८५५ में भारत में प्रथम बार जनगणना हुई। तब तक सिखों को अलग नहीं, हिन्दू समाज के अन्तर्गत ही गिना गया

था। महाराजा रणजीत सिंह के यहाँ १८०६ से १८३६ तक सेवा करने वाले स्टीनवाख नामक अंग्रेज ने अपने संस्मरणों में लिखा है— “अमृतधारी सिखों को उन्होंने हिन्दू समाज के द्वारा राष्ट्रीय प्रतिरोध की लौहपंक्ति के रूप में ही देखा।” बाद में इस लौहपंक्ति को तोड़कर किस प्रकार अंग्रेजां ने अपनी कूटनीति से मोमपंक्ति बनाकर उसे अपने पक्ष में किया और गदर को नाकामयाब करने में सफलता प्राप्त की, उसका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

### सिन्ध सभा और खालसा दीवान

आर्यसमाज के जन्म से पहले सन् १८३७ में ही, गुरु सिंह सभा बनी थी, जिसे अंग्रेजों का बरद-हस्त प्राप्त था। इसीलिए उसके उद्देश्यों में “कोई सरकार विरोधी कार्य न करने” की बात भी शामिल की गई थी और अंग्रेज अधिकारी को उसका सदस्य बनाने की छूट दी गई थी, किसी हिन्दू को नहीं। सिन्ध सभा ने जो पत्र-पत्रिकाएँ, ट्रैक्ट और पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं, और उनकी संख्या कम नहीं है, उनमें सरकारी संरक्षण पाने और अपनी वफादारी साबित करने के लिए अपना उद्देश्य God, Guru and Govt.’ (ईश्वर, गुरु व सरकार) के लिए काम करना घोषित किया। ‘दि सिख सिपाही’ ने अपने सामने ‘क्राउन, कप्टी और कम्युनिटी’ (सम्राट्, देश और सिख सम्प्रदाय) के लिए काम करने का उद्देश्य रखा। ये पत्र-पत्रिकाएँ सिक्खी और हिन्दुत्व के अलगाव पर ही विशेष बल देती थीं। लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था कि सिक्ख गुरुओं ने कभी वैदिक दर्शन, हिन्दू कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों का प्रचार नहीं किया।

सिंध सभा के आन्दोलन ने शिक्षा के क्षेत्र में भी अलगाव की भावना भरी। लार्ड रिपन की भारत से विदाई के अवसर पर (१३ नवम्बर, १८८४) अमृतसर के खालसा दीवान ने उन्हें जो मान-पत्र

दिया उसमें सिक्खों के लिए अलग कालेज की माँग की गई और उनको यह बताना भी आवश्यक समझा गया कि सिंध सभा स्वयं सिक्खों को हिन्दू समाज का अंग नहीं मानती। डा० गण्डा सिंह स्वयं लिखते हैं—“कुछ सरकारी क्षेत्रों में विद्यमान इस ध्रम को दूर करने के लिए कि सिक्ख पन्थ हिन्दू समाज का ही एक अंग है, खालसा दीवान वाले समय-समय पर प्रान्तीय गवर्नरों, भारत के गवर्नर जनरल एवं महारानी विकटोरिया के पास प्रतिवेदन भेजते रहते थे कि सिक्खों को एक पृथक् समुदाय के रूप में विशेष सहायता की आवश्यकता है।”

खालसा कालेज बनाने के लिए अंग्रेज अधिकारियों ने स्वयं चन्दा किया। जब कालेज अस्तित्व में आया तो प्रिसिपल अंग्रेज बना, कौंसिल का प्रेजीडेन्ट लाहौर का अंग्रेज कमिश्नर बना और डायरेक्टर अमृतसर का अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर बना। जो अंग्रेज प्रिसिपल बना वही पोलिटिकल एजेंट भी था। इस खालसा कालेज ने सिक्खों में अलगाव की भावना भरने में वही काम किया जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने मुसलमानों में अलगाव की भावना भरने में किया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी ‘विभाजित भारत’ नामक पुस्तक में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि पाकिस्तान के निर्माण में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की अहम भूमिका रही है।

सिंध सभा ने ही प्रथम बार ऐसे सिक्ख प्रचारक तैयार किए थे जो हिन्दुओं को सिक्खी की दीक्षा देने का काम करते थे। उत्तरी पंजाब, सिंध तथा पंजाब के शहरी हिन्दू काफी संख्या में सिक्ख बनाये गये। इस धर्मान्तरण के कार्य में मुख्य प्रचारक थे साहिबसिंह वेदी, काहनसिंह वेदी, अतरसिंह और संगतसिंह। सिंध सभा की बदौलत ही वीरसिंह, दित्तसिंह और मैकालिफ जैसे नये लेखक तैयार हुए जो सिक्ख गुरुओं की वाणी के हिन्दू विरोधी नये अर्थ निकालने लगे।

म्यूनिष्ट के प्राच्यभाषाविज्ञ डॉ० अर्नेस्ट ट्रम्प ने, जिसे ब्रिटेन के भारत सचिव ने ग्रन्थ साहब का अंग्रेजी में अनुवाद करने का काम सौंपा था, अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है—

“कुल पुरोहितों के रूप में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा कम नहीं की गई थी। लगभग सभी गुरुओं के अपने कुल पुरोहित थे, यद्यपि कहीं-कहीं वेदों और पुराणों के प्रमाणों की और पण्डितों के उपदेशों की आलोचना भी की गई है।”

उसी ट्रम्प ने यह भी लिखा है—

“अपने समस्त विचारों के अनुसार नानक पूर्ण हिन्दू ही रहे। यदि उन्होंने मुसलमानों से कुछ सौहार्द रखा और अनेक मुसलमान उनके शिष्य भी बने, तो इसका कारण वह सूफीवाद था जो उन मुसलमानों ने अपनाया था। यह सूफीवाद और कुछ नहीं, बल्कि हिन्दू शास्त्रों से सीधा लिया गया अनेकत्ववाद था जिसे बाहरी तौर से इस्लाम का जामा पहनाया गया था।”

एच० बी० हडसन ने भी ‘ग्रेट डिवाइड’ (पृष्ठ १०) में लिखा था—“सिखमत हिन्दुओं का परिष्कृत रूप है।”

आर्यसमाज के जन्म से पहले ही, सिक्खों में दो और सम्प्रदायों का भी आविर्भाव हुआ था, जिनका मुख्य उद्देश्य सिक्खों में हिन्दुओं से अलगाव की भावना भरना था। महाराजा रणजीतसिंह के समय से ही सत्ता प्राप्ति के साथ सिक्खों ने क्रियात्मक रूप से हिन्दूत्व की ओर खिचना प्रारम्भ कर दिया था। तब दयालदास (१७८३-१८५५) ने निरंकारी आन्दोलन चलाया जिसका उद्देश्य था कि किसी तरह सिक्ख परम्परा को हिन्दू रीति-रिवाजों के अतिक्रमण से बचाया जाए। उन्होंने न तो अमृत चखा, न ही केश रखे। वे असल में गुरु गोविन्द-सिंह से पहले वाले गुरुओं की सिक्खी चलाना चाहते थे। उनका सबसे बड़ा विरोध मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में था, जबकि सिक्खों ने गुरुओं की मूर्तियाँ स्थापित करना शुरू कर दिया था। वे मूर्ति, या अवतार, या

किंसी भी व्यक्ति की पूजा को धर्म-विरुद्ध मानते थे। वे नानक को भी निरंकारी अर्थात् निराकार मानते थे।

इसी प्रकार आर्यसमाज से पहले नामधारी सम्प्रदाय का भी जन्म हो चुका था। ये भी सिक्खों में आई रूढ़ियों का सुधार करना चाहते थे। नामधारी सम्प्रदाय के संस्थापक थे भगत जवाहरमल, जो साईं साहब के नाम से मशहूर थे। उनका देहान्त १८६२ में हुआ। पर जहाँ निरंकारी केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित रहे वहाँ नामधारी राजनीतिक क्षेत्र में भी रुचि लेने लगे। नामधारी कूकाओं ने गोरक्षा के लिए जिस प्रकार अप्रतिम बलिदान से अपनी गोभक्ति और राष्ट्र-भक्ति का परिचय दिया, उसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि सिंघ सभा को ये दोनों ही बातें रास नहीं आईं। न सिक्खों में सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में उसकी कोई रुचि थी और न ही गो-भक्ति या राष्ट्र-भक्ति में। उसकी मुख्य रुचि अंग्रेज-भक्ति में थी। इसलिए इस वर्ग ने निरंकारियों का भी विरोध किया और नामधारियों का भी। भिण्डरांवाले द्वारा प्रोत्साहित आतंकवाद की तो शुरुआत ही निरंकारी-विरोध से हुई। धीरे-धीरे यह आतंकवाद हिन्दू-विरोध में, फिर राष्ट्र-विरोध में और अन्ततः मानवता-विरोध (कनिष्ठ वायुयान का विस्फोट जिसका उदाहरण है) में परिणत होता गया।

### आर्यसमाज और राष्ट्रवाद

ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व सिक्ख इतिहास किस दिशा में बह रहा था, यह बताने के लिए इतना ही काफी है—अलगाववाद की एक धारा थी और अंग्रेज-भक्ति की भी एक धारा थी। अंग्रेजों ने १८५७ के बाद इन दोनों धाराओं को अपनी ओर मोड़ लिया। हिन्दुत्व से अलगाव की और अंग्रेज-भक्ति की। इस प्रकार की छोटी-मोटी धारा आर्यसमाज के इतिहास में भी रही है। पर वह कभी

आर्यसमाजी जन-साधारण पर हावी नहीं हो पाई। सामान्य आर्य-जनता सदा राष्ट्रोन्मुख बनी रही। आर्यसमाज ने केवल वेद को ही महत्त्व दिया होता, तो सम्भव है कि वह भी एक वैदिक सम्प्रदाय-मात्र बनकर रह जाता। पर ऋषि दयानन्द जितने वेद-वादी थे उससे कम राष्ट्रवादी नहीं थे। उस काल में ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज और देव-समाज तथा थियोसॉफिकल सोसायटी आदि जितनी भी संस्थाएँ जन्मीं उन सब में राष्ट्रवाद की न्यूनता ने ही उन संस्थाओं को बाद में उतना लोकप्रिय नहीं रहने दिया। आर्यसमाज की दिन-प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता का रहस्य इसी बात में है कि उसने वेद और राष्ट्र दोनों को सदा साथ रखा और उनको समान महत्त्व दिया। ऋषि दयानन्द की समग्र विचारधारा को राष्ट्रीय दृष्टि से देखने पर लगता है कि उन्होंने धार्मिक दृष्टि से समस्त सम्प्रदायों को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए वेद को अपनाया। अनेक बोलियों और भाषाओं में बँटे देश को भाषायी दृष्टि से एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए स्वयं अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी भाषा को अपनाया और राजनीतिक दृष्टि से सब दलों और विभिन्न विचारधाराओं वाली संस्था को एक करने के लिए उन्होंने एक राष्ट्र (आर्यवर्त) का नारा दिया एवं जनता में राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना भरी। स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार बताने वाले, उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट विदेशी राज्य से भी स्वदेशी राज्य को अच्छा बताने वाले, स्व-धर्म, स्व-संस्कृति, स्वदेश और स्व-वेष, इन सब में 'स्व' को सबसे अधिक महत्त्व देने वाले व्यक्ति की राष्ट्रीय अस्मिता की तुलना कौन कर सकता है? इसलिए ऋषि दयानन्द अंग्रेज-भक्त कभी हो नहीं सके। अंग्रेजी-राज्य उस महापुरुष को कभी पचा नहीं सका। आम जनता में यही धारणा है कि ऋषि को विष दिलवाकर मरवाने में अंग्रेजों का ही हाथ था।

राष्ट्र-भक्ति की भावना प्रत्येक आर्यसमाजी को घुट्टी में ही प्राप्त

हो जाती है। इसीलिए अराष्ट्रीय कामों के प्रति उसका आक्रोश भी तीव्रतम होता है। इसी को अकाली नेता कहते हैं कि हमारी माँगों का न ईसाई विरोध करते हैं, न मुसलमान, न आम हिन्दू—बस केवल आर्यसमाजी ही विरोध करते हैं। वैचारिक दृष्टि से आर्यसमाजी भी कम उग्रवादी नहीं हैं। पर अकालियों के और आर्यसमाजियों के उग्रवाद में जमीन-आसमान का अन्तर है। अकालियों का उग्रवाद अपने सम्प्रदाय के बोलवाले को लेकर है और आर्यसमाजियों का उग्रवाद ऐक्यबद्ध अखण्ड भारतीय राष्ट्र के बोलवाले को लेकर है। अकाली अपनी साम्प्रदायिक माँगों को पूरा करवाने के लिए हिंसा और हत्याओं का आश्रय लेते हैं, आर्यसमाजी राष्ट्र की रक्षा के लिए सदा सर्वस्व बलिदान करने को सन्नद्ध रहते हैं। यही कारण है कि जहाँ अकालियों के (और अन्य मतावलम्बियों के भी) हाथ खून से रंगे हैं, वहाँ आर्यसमाजियों के वक्ष-स्थल खून से रंगे हैं। आर्यसमाज ने कभी हत्यारे पैदा नहीं किए, सदा हुतात्मा पैदा किए हैं।

आर्यसमाज के इसी उग्र और तेजस्वी राष्ट्रवाद ने सिक्खों को भी प्रभावित किया। इसलिए १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इन दोनों वर्गों में जितना सौहार्द और सौमनस्य रहा, उसे देखकर पंजाब में १६वीं सदी में आर्यसमाज की स्थिति का गम्भीर अध्ययन करने वाले सुप्रसिद्ध अमरीकी विद्वान् केनिथ डब्ल्यू० जौन्स ने तो इस युग को ही, 'हिन्दू-सिक्ख भाई-भाई युग' का नाम दिया था।

सिक्खों के आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने का कारण राष्ट्रवाद के अलावा कुछ अन्य समानताएँ भी थीं। उन समानताओं को संक्षेप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

१. आर्यसमाज के संस्थापक ने अपने सिद्धान्तों का आधार वेद को ही बनाया था। मुख्य बात यह है कि सनातनी लोग मृतक श्राद्ध, सती-प्रथा, छूत-छात और स्त्री-शूद्र को न पढ़ाना, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और यज्ञों में पशु-हिंसा आदि का समर्थन वेदों का नाम लेकर

करते थे। स्वामी दयानन्द वेदों के प्रमाणों से ही उन सबका खण्डन करते थे। वे वेदों को सब सत्य विद्याओं का आधार मानते थे। गुरु ग्रन्थ साहिब में भी वेदों का बार-बार उल्लेख आया है। पंजाब विश्वविद्यालय के मानविकी तथा धार्मिक अध्ययन निकाय के डीन डॉ० तारनसिंह ने 'हिस्ट्री आफ श्री गुरुग्रन्थ साहिब' में लिखा है—

"ग्रन्थ साहिब में ३३० बार वेद का नामोल्लेख हुआ है। वेद के ज्ञान के बिना, जो हमारी परम्परागत निधि है, गुरु ग्रन्थ साहिब को नहीं समझा जा सकता। इसकी जड़ वेद में है। यह उसी प्राचीन सनातन ज्ञान से आविर्भूत हुआ है और उसी परम्परा का विकास करता है। आदि ग्रन्थ के अनुसार वेद समस्त ज्ञान के आलोक का मूल स्रोत है। जैसे दीपक प्रज्ज्वलित होने पर अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार वेद पढ़ने से सब बुराइयाँ दूर होती हैं।"

**दीवा बलै अन्धेरा जाइ ।**

**वेद पाठ मति-पापां खाइ ॥ (पृष्ठ ७६१)**

२. दूसरी समानता दोनों में धार्मिक कर्म-काण्ड और बाह्य आडम्बर की कड़ी निन्दा थी। सन् १८६७ में स्वामी दयानन्द ने मूर्ति-पूजा तथा अन्य पौराणिक कुरीतियों का निवारण करने के लिए हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर पाखण्ड-खण्डनी पताका गाड़ी थी। उसी हरिद्वार से सम्बन्धित गुरु नानक के जीवन की घटना है। जब गंगा के तट पर गुरु नानक ने भक्तों को स्नान के पश्चात् सूर्य को अर्ध्य चढ़ाते देखा तो वे उल्टी दिशा में मुँह करके गंगाजल भूमि पर बिखेरने लगे। जब उनके इस अटपटे व्यवहार से चकित होकर लोगों ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं अपने खेतों को पानी दे रहा हूँ। लोगों ने कहा—"यहाँ दिया पानी तुम्हारे खेतों में कैसे पहुँच सकता है।" तब गुरुजी ने कहा—"जब आप लोगों का दिया जल करोड़ों मील दूर सूर्य तक पहुँच सकता है, तो मेरा दिया

जल यहाँ से कुछ सौ मील दूर करतारपुर के खेतों तक सिंचाई के लिए क्यों नहीं पहुँच सकता ?

३. तीसरी समानता समाज-सुधार सम्बन्धी थी। उन दिनों हिन्दुओं और सिक्खों में सामाजिक कुरीतियाँ भी एक जैसी थीं। जैसे बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, जांत-पांत के बन्धन और छुआ-छूत आदि। समाज को शक्तिशाली बनाने के लिए बुराइयों को दूर करना आवश्यक था। हिन्दू समाज तथा सिक्ख समाज में जो लोग पादचात्य शिक्षा सम्पन्न थे, उनके दृष्टिकोण इस विषय में समान थे और वे इन बुराइयों को समाज के लिए घातक समझते थे।

४. चौथी समानता यह थी—उस समय ईसाइयत का खतरा हिन्दुओं और सिक्खों के लिए समान रूप से था और दोनों के नेता इस खतरे के निवारण के प्रति सतर्क थे।

### सिक्खों द्वारा सहयोग

इन सब कारणों से जब सन् १८७७ में स्वामी दयानन्द पहली बार पंजाब आए, तो सिक्खों ने उनको हार्दिक सहयोग दिया। बल्कि कहना चाहिए, स्वामीजी को पंजाब आने का सन्देश देने का श्रेय सिक्खों को ही है। जालन्धर के सरदार विक्रमसिंह ने १८७४-७५ में घहली बार बम्बई में स्वामीजी के व्याख्यान सुने। उसके बाद स्वामीजी के दिल्ली दरबार में आने पर वे उनसे मिले और उन्हें पंजाब आने का निमन्त्रण दिया। महाराजा कपूरथला भी स्वामीजी के बहुत प्रशंसक थे।

३१ मार्च, १८७७ को स्वामीजी लुधियाना पहुँचे तो वहाँ के सबसे बड़े सिक्ख नेता सरदार जयमल सिंह के यहाँ ठहरे। २८ दिन तक स्वामीजी के व्याख्यान उन्हीं की कोठी पर होते रहे। उसके बाद स्वामीजी लाहौर गये, तो वहाँ के प्रसिद्ध मुसलमान रहीम खाँ की कोठी पर ठहरे। २४ जून को आर्यसमाज अनारकली की स्थापना

हुई तो उसके प्रथम मन्त्री भाई जवाहरसिंह बने। सरदार जवाहर सिंह के प्रयत्न से ही अनारकली आर्यसमाज के ३०० सदस्य बने। उन्हीं की प्रेरणा से भाई दित्त सिंह ज्ञानी, भाई माया सिंह तथा भगत लक्ष्मण सिंह आदि कई अन्य सिक्ख भी आर्यसमाज में आए।

५ जुलाई, १९७७ को स्वामीजी अमृतसर पहुँचे तो पंजाब के प्रसिद्ध समाज सुधारक और 'ट्रिब्यून' पत्र के संस्थापक सरदार दयाल सिंह मजीठिया ने उनका भव्य स्वागत किया और उनको अपनी कोठी पर ठहराया। वहाँ स्वामी जी ने 'आर्योदैश्य रत्नमाला' नामक पुस्तिका लिखी जिसमें उनके मन्तव्यों का सार है। मजीठिया के प्रयत्न से ही ४०/- रु० मासिक किराये पर एक मकान लेकर उसमें विधिवत् आर्य समाज की स्थापना की गई और उसके प्रथम मन्त्री बाबा नारायण सिंह बकील बने। उसके बाद स्वामीजी जालन्धर पहुँचे तो सरदार सुरजीत सिंह के निवास स्थान पर ठहरे और सरदार विक्रम सिंह के निवास स्थान पर भाषण दिए। सरदार विक्रम सिंह द्वारा दी गई भूमि पर ही इस समय आर्य कन्या पाठशाला चल रही है। उसके बाद स्वामी जी फिरोजपुर गए तो सिक्ख नेता सरदार सरूप सिंह की कोठी पर ठहरे। मुलतान में ४ अप्रैल, १९७८ को आर्यसमाज की स्थापना हुई तो उसके प्रथम प्रधान सरदार प्रेम सिंह बने। जब दुबारा स्वामीजी अमृतसर गए तो सरदार भगवान सिंह के बाग में ठहरे। अमृतसर में ही वहाँ के प्रसिद्ध उद्योगपति सरदार अमरसिंह ने मंजिल रोड पर दो एकड़ भूमि में अपने खर्च से एक विशाल भवन बनवाकर दिया और वहाँ दयानन्द अरबी संस्कृत विद्यालय खोला जिसमें इस्लाम का मुकाबला करने के लिए अरबी और संस्कृत के ज्ञाता अनेक उपदेशक तैयार किए गये जिन्होंने पंजाब को आर्यसमाज का गढ़ बनाने में खूब योग दिया। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि वजीराबाद आर्यसमाज के लिए महाराजा रणजीत सिंह के पोते ने भूमि दान में दी थी।

स्वामीजी ने जब गोरक्षा आन्दोलन चलाया और लाखों लोगों के हस्ताक्षर करवाकर गोहत्या बन्दी ज्ञापन ब्रिटिश सरकार के पास भेजने की योजना बनाई, तो सिक्खों ने बड़े उत्साह से उसमें भाग लिया। स्वयं स्वामी जी ने सरदार सरूप सिंह की वैदिक धर्म के प्रति की गई सेवाओं की बहुत प्रशंसा की है। अनारकली आर्यसमाज के मन्त्री भाई जवाहरसिंह ने स्वामीजी की प्रेरणा से हिन्दी सीखी और स्वामीजी के साथ उनका पत्र-व्यवहार हिन्दी में ही होता रहा। नामधारी सिक्खों के नेता सरदार इन्द्र सिंह ने स्वामीजी के गोरक्षा आन्दोलन में खूब योग दिया।

इसी प्रकार जब आर्यसमाज ने शुद्धि आन्दोलन चलाया और आगरा तथा मथुरा में हजारों मलकाने पुनः शुद्ध होकर वापिस अपने पूर्वजों के धर्म में दीक्षित होने लगे, तो कई मुसलमान नेता बड़े बौखलाये। तब अकाली नेता सरदार लालसिंह ने, जो पंजाब से खालसा सभा के सैकेटरी थे, घोषणा की थी—“शुद्धि आन्दोलन से मुसलमान आपे से बाहर हो रहे हैं। सब सिक्ख इस शुद्धि आन्दोलन का समर्थन करते हैं और यदि मुसलमानों ने कुछ विपरीत प्रतिक्रिया की तो, सिक्ख उसका जवाब देने में सबसे आगे रहेंगे।”

सन् १९३६ में जब आर्यसमाज ने निजाम हैदराबाद के विरुद्ध धार्मिक और नागरिक अधिकारों के लिए सत्याग्रह आन्दोलन किया तो सिक्खों ने उसमें पूरा सहयोग दिया। ननकाना साहब गुरुद्वारा कमेटी ने जत्था भेजा। सन्तनगर के सरदार हरभजन सिंह ने सत्याग्रही एकत्र करने के लिए व्यापक दौरा किया। लाहौर के जत्थे का नेतृत्व कान्तिकारी सिक्ख नेता सरदार मौन सिंह गामा ने किया। यह सब क्यों न होता जबकि दशमेश गुरु गोविन्द सिंह ने स्पष्ट रूप से कहा था—

जो तुम सिख हमारे आरज।

देवी सीस धरम के कारज ॥

तृतीय जो नर-नारी आरज ।  
 हो रहे निज धर्मों खारिज ॥  
 पाप कुकर्मन में अति लागे ।  
 इसी हेतु हो रहे अभागे ॥ (पन्थ प्रकाश)

—जो तुम हमारे सच्चे सिक्ख आर्य हो तो धर्म के लिए सिर देना तुम्हारा कर्तव्य है । जो आर्य नर-नारी वेद धर्म को छोड़कर पाप कर्म में लगे वे अभागे बने रहे । मैं उनको सुधारने के लिए यज्ञ करना चाहता हूँ जिससे वैदिक रीति बढ़े और देश पुनः आर्य बने—  
 होवे जाते यज्ञ पूजा, बढ़े वैदिक रीति ।  
 होवे जाते देश आर्य, वैदिक धर्म प्रतीति ॥

जून १८८५ में लाहौर से जो 'आर्य पत्रिका' निकली थी उसके प्रथम सम्पादक सरदार अर्जुन सिंह थे जो शहीद भगतसिंह के दादा थे । उन्होंने वैदिक धर्म के सिद्धान्तों पर कई पुस्तकें भी लिखी थीं । अंग्रेजी में स्वामी दयानन्द की सर्वप्रथम महत्वपूर्ण जीवनी लिखने वाले सरदार छज्जू सिंह थे । सन् १९०३ में उन्होंने 'लाइफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ स्वामी दयानन्द' पुस्तक लिखी जो अब तक प्रामाणिक मानी जाती है ।

लाला लाजपतराय की डायरी के अनुसार सरदार भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह लाहौर आर्य अनाथालय के मैनेजर थे और उनके पुत्रों की शिक्षा डो० ए० वी० स्कूलों के आर्यसमाजी वातांवरण में हुई थी । सरदार भगत सिंह एवं अन्य क्रान्तिकारियों द्वारा लाला लाजपतराय पर लाठियाँ बरसाने के लिए बदनाम साइमन कमीशन के साण्डर्स पर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के द्वार के पास ही गोली चलाई गई थी ।

अमृतसर के प्रसिद्ध वस्त्र उद्योगपति बाबा प्रदुमन सिंह आर्यसमाज के विभिन्न कार्यों में मुक्तहस्त होकर सहायता किया करते थे । अमृतसर के डी० ए० वी० कालेज के मुख्य प्रबन्धक वही थे । देहरादून

के पास वैदिक सांधनाश्रम तपोवन, जहाँ इस समय एक गुरुकुल भी चल रहा है, आर्यसमाज के प्रति बाबा गुरमुख सिंह के प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है। नई दिल्ली में हनुमान रोड पर स्थित प्रमुख आर्यसमाज के प्रधान पद को बाबा मिलखा सिंह वर्षों तक सुशोभित करते रहे। बाबा विचित्र सिंह आर्य संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान देने के लिए विख्यात थे।

### आर्यसमाज का सहयोग

वर्तमान हिन्दू-सिख दरार के लिए अकाली नेता भले ही आर्यसमाज को दोष देते रहें, परन्तु आर्य नेताओं ने उनके न्यायोचित आन्दोलन में सदा सहयोग दिया है। जब शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने दुर्व्यसनों में फँसे महन्तों के चंगुल से गुरुद्वारों को मुक्त कराने के लिए आन्दोलन छेड़ा, तब क्योंकि ये गुरुद्वारे चिरकाल से उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति बने हुए थे, इसलिए कानून और ब्रिटिश सरकार उसके पक्ष में थे। अकालियों ने अहिंसक सत्याग्रह के द्वारा गुरुद्वारों पर अधिकार करना शुरू किया। ब्रिटिश सरकार ने उन सत्याग्रहियों पर भीषण अत्याचार किये। अमृतसर की अजनाला तहसील में 'गुरु का बाग' नामक गुरुद्वारे के साथ लगने वाले बगीचे से जब अकालियों ने लंगर के लिए लकड़ी काटी, तो उन पर अधियोग चलाकर उन्हें दण्डित किया गया। इस प्रश्न पर अकालियों ने सत्याग्रह किया और देश की सभी संस्थाओं से उसमें सहयोग देने की अपील की। अनेक कांग्रेसी नेताओं ने और पं० मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दू नेताओं ने इस अपील का समर्थन किया। पर सबसे अधिक सक्रियता दिखाई स्वामी श्रद्धानन्द ने। वे इस आद्वान पर स्वयं अमृतसर पहुँचे और स्वर्ण मन्दिर में भाषण देते हुए घोषणा की कि यह संघर्ष केवल सिखों का नहीं, अपितु समस्त भारतीयों का है। सत्याग्रह में सिखों के साथ वे स्वयं भी शामिल होकर गिरफ्तार हुए

और मजिस्ट्रेट ने उन्हें सवा साल की सजा दी। वे अमृतसर और मियांवाली की जेलों में बन्द रहे। इस कारावास की कथा उन्होंने अपने 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक पुस्तक में लिखी है। इस पुस्तक से पता लगता है कि जेल में जब भी सिक्ख संगत लगती तब उसमें आशीर्वाद देने के लिए सदा स्वामीजी से ही आग्रह किया जाता। जेल में ही स्वामीजी की अध्यक्षता में नवम्बर मास में गुरु नानक देव का जन्म-दिवस और २५ दिसम्बर, १६२२ को कलगीधारी गुरु गोविन्द सिंह का, जिसे स्वामीजी ने 'राजर्षि' विश्लेषण से सम्बोधित किया है, जन्म-दिवस मनाया गया। उसके बाद जब स्वामीजी जेल से छूटकर अमृतसर आए तो सिक्खों ने उनका स्वागत किया और विशेष आग्रह करके स्टेशन से सीधा उन्हें दरबार साहिब ले गए जहाँ अकाल तख्त से उनका उपदेश हुआ।

सन् १६३५ में पंजाब में गुरुद्वारा शहीद गंज का जो विवाद चला उसने सारे सिक्ख समाज को हिला दिया। यह केस काफी समय तक लाहौर की हाईकोर्ट में लटकता रहा और बाद में प्रिवी कॉसिल तक गया। उस केस में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्षों तक प्रधान रहे बैरिस्टर दीवान बद्रीदास ने सिक्खों की ओर से प्रबल पैरवी की और इतनी योग्यता से मुकदमा लड़ा कि अंग्रेज जज को अन्त में सिक्खों के पक्ष में फैसला करना पड़ा। राय बहादुर दीवान बद्रीदास का, इस विजय के उपलक्ष्य में स्वर्ण मन्दिर में बुलाकर भव्य स्वागत किया गया और उन्हें सरोपा भेंट किया गया। जब सिक्खों ने इस महान सेवा के लिए मेहनताने के रूप में उन्हें तीस हजार रुपये भेंट किया तो उन्होंने यह कहकर उसे लेने से इन्कार कर दिया —“मैंने तो अपने शहीद पूर्वजों की यादगार वापिस अपनी कौम के हाथ में सौंपने के लिए अपने कर्तव्य का पालन मात्र किया है, मेहनताना कैसा?

### दरार कैसे पैदा हुई ?

प्रश्न यह है कि जब सिक्खों और आर्यसमाजियों में इतना सौहार्द था, तब आपसी दरार कैसे पैदा हुई ?

आर्यसमाज की स्थापना से पहले सिक्खों में कौन-सी दो धाराएँ चल रही थीं, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आर्यसमाज और सिक्खों में ज्यों-ज्यों आपसी सहयोग बढ़ता गया, त्यों-त्यों राष्ट्रवादी धारा के सामने उक्त दोनों धाराएँ फीकी पड़ती गईं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को यह कैसे पसन्द आ सकता था। उन्होंने अपनी 'फूट डालो और राज करो' की कूटनीति का फिर आश्रय लिया और सन् १८५७ के बाद जो खेल खेलना शुरू किया था, उसी को फिर आगे बढ़ाया। उन्होंने सिखों और आर्यसमाजियों दोनों को राजभक्त बनाने के लिए काफी प्रयत्न किया। आर्यसमाजियों पर उनका जादू नहीं चला। तब उन्होंने सिक्खों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। वहाँ उनको 'काली भेड़ें' मिल गईं, क्योंकि उनमें अलगाव की एक धारा पहले से ही चली आ रही थी।

सन् १८३६ में जब भूमि हस्तान्तरण कानून 'लैण्ड एलीनेशन ऐक्ट' बना तो उससे पंजाब के शहरी शिक्षित हिन्दू प्रभावित हुए और नहरी पानी पर कर बढ़ने से और नई नहरी आबादियों में कड़े नियम लागू होने से देहाती सिक्ख भी शासन से असन्तुष्ट होने लगे। तब पंजाब 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' के आन्दोलन से गूँज उठा। इस आन्दोलन के नेता थे—लाला लाजपतराय और सरदार भगतसिंह के चाचा सरदार अजीतसिंह। इन दोनों को ब्रिटिश सरकार ने देश-निवासिन का दण्ड दिया।

इस आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने राजभक्त सिक्खों का एक वर्ग तैयार किया और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी प्रकट करने वाली धार्मिक सिक्ख संस्थाओं को संरक्षण प्रदान किया गया। इनमें चीफ खालसा दीवान की भूमिका महत्वपूर्ण थी। इधर

सिक्खों में राजभक्तों की संख्या बढ़ने लगी, उधर आर्यसमाजियों को राजद्रोही करार दिया जाने लगा। आर्यसमाज में बढ़ती राष्ट्रवादी प्रवृत्ति अंग्रेजों को किस प्रकार खटकती थी यह इसी से स्पष्ट है कि कई स्थानों पर आर्यसमाजियों पर राजद्रोह के मुकद्दमे चले।

आर्यसमाज के उस समय के प्रायः सभी नेताओं का सम्बन्ध अंग्रेजी राज्य को उलटने वाले क्रान्तिकारियों से कहीं-न-कहीं जुड़ता नजर आया, तो अंग्रेजों ने सम्पूर्ण आर्यसमाज पर राजद्रोही संस्था का ठप्पा लगाकर उसपर प्रतिबन्ध भी लगाना चाहा। पर इस प्रकार के कदम से आम जनता में राजद्रोह की प्रवृत्ति और बढ़ती, क्योंकि पंजीकृत आर्यसमाजियों की संख्या चाहे कम रही हो, पर देश की बुद्धिजीवी शहरी जनता पर और देश की माटी से जुड़ी देहाती जनता पर आर्यसमाज का प्रभाव आर्यसमाजियों की संख्या के अनुपात में कई गुना अधिक था। इसलिए सरकार ने प्रतिबन्ध का इरादा छोड़ दिया। स्वामी श्रद्धानन्द का बड़ा लड़का हरिश्चन्द्र क्रान्तिकारी राजा महेन्द्र प्रताप के साथ विदेश चला गया और वहाँ से लापता हो गया, जिसका अन्त तक कुछ पता नहीं लगा। महात्मा हंसराज (डी० ए० वी० आन्दोलन के जनक) के सुपुत्र बलराज, लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द (कालिज पार्टी के नेता) के सुपुत्र रणवीर और महाशय कृष्ण (गुरुकुल पार्टी के नेता) के सुपुत्र वीरेन्द्र पर लाहौर षड्यन्त्र केस में शामिल होने के आरोप में मुकद्दमे चले और उन्हें दस-दस साल की कठोर सजा दी गई। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का आर्यसमाज को राजद्रोहों संस्था समझना अस्वाभाविक नहीं था।

आर्यसमाजियों के लिए भी यह कड़ी परीक्षा की घड़ी थी। जब पटियाला में आर्यसमाजियों पर राजद्रोह का मुकद्दमा चला और कई आर्यसमाजियों को रियासत से निर्वासित कर दिया गया, तब यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार की तरह सिक्ख नरेशों की भी आर्यसमाज पर कोपदृष्टि है। नाभा नरेश महाराजा हीरासिंह आर्य-

समाज के समाज-सुधार सम्बन्धी कामों के प्रशंसक थे, पर आर्यसमाज प्रचारकों द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रचार उन्हें असह्य था। शायद उन पर मैकालिफ की उस मनघड़न्त भविष्यवाणी का असर था जिसमें सिक्खों और ब्रिटिश सरकार के सहयोग को सिक्खों के सुखद भविष्य की गारण्टी बताया गया था। इसीलिए वे अपनी रियासत में आर्यसमाज के उपदेशकों को नहीं घुसने देते थे कि कहीं कोई उपदेशक अंग्रेजों के विरुद्ध जनता को न भड़का जाए। ये सिक्ख रियासतें अपने आपको ब्रिटिश इलाके के सिक्खों से अधिक वफादार सिद्ध करने के लिए ब्रिटिश शासकों द्वारा रोपित हिन्दुओं से अलगाव की भावना को भी हवा देती थीं। 'हम हिन्दू नहीं' के लेखक सरदार काहनसिंह नाभा नरेश श्री रिपुदमन सिंह के शिक्षक रहे थे और अन्तिम समय तक रियासत से सहायता प्राप्त करते थे।

अंग्रेजों की कोपदृष्टि से बचने के लिए सरकारी सेवा में कार्यरत अनेक भीरु आर्यसमाजियों ने लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद आर्यसमाज के रजिस्टरों से अपने नाम कटवाने शुरू कर दिये और आर्यसमाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। आर्यसमाजी होना मात्र ही उस समय पुलिस द्वारा परेशान किये जाने का पर्याप्त कारण था। कुछ लोगों ने लाला लाजपतराय को भी आर्यसमाज से निकालने की माँग की थी। पर उस समय स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाजियों का मनोबल गिरने नहीं दिया और रैम्बे मैकडाइड, लार्ड चेम्सफोर्ड और सर जेम्स मेस्टन जैसे ब्रिटिश शासन के स्तम्भों को तथा दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रू जैसे भारत-भक्त को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आमन्त्रित करके आर्यसमाज के प्रति अंग्रेजों की कोपदृष्टि को उग्र होने से बचा लिया।

कहने का आशय यह है कि अंग्रेजों ने अपनी ओर से आर्य-समाजियों और सिक्खों दोनों को पटाने की कोशिश की। सिक्ख पट गए, आर्यसमाजी नहीं पट पाए। फिर भी सिक्खों और आर्यसमाजियों

## २३८ : असलियत क्या है

में जो राष्ट्रवादी विचारधारा के लोग थे उनमें सौहार्द ज्यों-का-त्यों कायम रहा। लाला लाजपतराय के साथ सरदार अजीत सिंह की गिरफ्तारी इसी बात का प्रमाण है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जो सिक्ख आर्यसमाज के सम्पर्क में बने रहे, वे राष्ट्रवादी विचारधारा से विचलित नहीं हो पाये और जो इस सम्पर्क से बिदकते रहे वे अंग्रेजभक्ति और साम्प्रदायिकधारा में अनायास बहते चले गए। इस बहाब के लिए आर्यसमाज को दोष देना कहाँ तक न्यायसंगत है?

इसी अलगाव के कारण १९०५ में स्वर्णमन्दिर से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हटाई गईं। स्वर्ण मन्दिर के निर्माताओं के मन में क्या था, यह तो इसी बात से स्पष्ट है कि उन्होंने गुरुद्वारा नहीं, मन्दिर नाम दिया था—स्वर्ण मन्दिर और हरमन्दिर। पर अलगाव-वादियों को वह सहन नहीं हुआ। तब हिन्दुओं ने अलग दुर्घट्याणा मन्दिर बनाया जो अकाल-तख्त का प्रतिद्वन्द्वी समझा गया। नाभा-नरेश रिपुदमन सिंह के प्रयत्न से १९०६ में ब्रिटिश सरकार ने आनन्द विवाह कानून बनाया। दोनों सम्प्रदायों को अलग करने का यह एक महत्वपूर्ण पूर्ण था। उससे पहले सिक्खों के विवाह भी हिन्दू विवाह पद्धति से ही होते थे।

इन्हीं दिनों अलगाव का एक आर्थिक कारण भी तैयार हो गया। 'ट्रिब्यून' के संस्थापक सरदार दयालसिंह मजीठिया पंजाब के प्रसिद्ध रईस थे। अपने समाज सुधार और उदार विचारों के प्रसार के लिए ही उन्होंने 'ट्रिब्यून' की स्थापना की थी। उनकी कोई सन्तान नहीं थी। अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने हिन्दू उत्तराधिकार कानून के अनुसार कुछ सम्पत्ति अपनी पत्नी के नाम करके शेष सारी सम्पत्ति को सामाजिक कार्यों में व्यय करने के लिए ट्रस्ट बना दिया। सितम्बर १९०३ में उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी तथा अन्य रिक्तेदारों ने अदालत में उस वसीयतनामे पर सख्त आपत्ति की। रिक्तेदारों का

कहना था कि हिन्दू उत्तराधिकार कानून के अनुसार उन्हें ट्रस्ट को सम्पत्ति देने का अधिकार नहीं, क्योंकि वे सिक्ख थे, हिन्दू नहीं। इस वसीयतनामे को हाईकोर्ट में चुनौती दी गई। उच्च न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया कि सिक्ख हिन्दू हैं या नहीं। अन्त में हाईकोर्ट में निर्णय दिया कि सरदार मजीठिया हिन्दू हैं। इस निर्णय से सिक्ख समाज में ही आपसी विवाद उत्पन्न हो गया और उस समय के पत्रों में इस विवाद की काफी चर्चा रही।

उन्हीं दिनों भाई जगतसिंह ने, जो आर्यसमाज के सदस्य थे, 'रिसाला प्रकाश' नाम पुस्तक में लिखा—“१६वीं सदी में गुरु नानक ने हिन्दू धर्म को कुरीतियों से मुक्त कराया। उसी परम्परा का निर्वाह आर्यसमाज कई सौ वर्षों के बाद कर रहा है।” उन्हीं दिनों अमृतसर के बाबा नारायण सिंह तथा लाला ठाकुरदास ने सिक्खों को हिन्दू सिद्ध करने के लिए 'सिक्ख हिन्दू हैं' नाम से पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। दूसरे पक्ष की ओर से सरदार काहन सिंह ने 'हम हिन्दू नहीं' पुस्तक लिखी जिसमें सिक्खों को हिन्दुओं से अलग बताया गया।

## दो मुख्य आरोप

पंजाब की वर्तमान स्थिति के लिए आर्यसमाजियों पर दो मुख्य आरोप लगाए जाते हैं। पहला तो यह है कि महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में सिक्ख मत की आलोचना की है और दूसरा यह कि घर में पंजाबी बोलते हुए भी आर्यसमाजियों ने जनगणना में अपनी भाषा हिन्दी लिखाई है। इन दोनों आरोपों का उत्तर अपेक्षित है।

'सत्यार्थ प्रकाश' प्रथम बार सन् १८७५ में प्रकाशित हुआ था। शुरू के दिनों में जो सिक्ख आर्यसमाज में शामिल हुए उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश की उस आलोचना पर कोई आपत्ति नहीं की, जबकि जैनियों ने सन् १८८२ में स्वामी दयानन्द पर एक मुकदमा इसलिए किया

था कि उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में जैन धर्म की आलोचना की है, जिससे जैनियों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचती है। सिक्खों की ओर से इस प्रकार की कोई शिकायत नहीं की गई। किन्तु जब ब्रिटिश कुचक्र से और कई अन्य कारणों से सिक्खों में हिन्दुओं से पृथकता की भावना उत्पन्न हो गई, तब उस पर आपत्ति की जाने लगी। गुरु नानक ने भी कैलाश-मानसरोवर के योगियों, हरिद्वार और जगन्नाथ पुरी के पण्डियों के बाह्याचारों की आलोचना की है। यों भी जब कोई नया आचार्य आता है, तो वह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आलोचना करता ही है। ऐसा न हो, तो नये आचार्य के मत की स्थापना होगी ही, कैसे? 'सूरज प्रकाश' और 'नानक चन्द्रोदय' जैसे ग्रन्थों में गुरु नानक के जिन चमत्कारों का वर्णन किया गया है उन पर आज का कोई निष्पक्ष सिक्ख बुद्धिजीवी भी विश्वास नहीं करेगा। दयानन्द जैसा तार्किक विद्वान् कैसे करता? स्वामीजी ने गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह की इस बात के लिए प्रशंसा की है कि उन्होंने अपने समय में हिन्दू जाति की रक्षा की। 'पंच ककार' का भी उन्होंने समर्थन किया है, पर उन्होंने युद्ध के लिए उसका प्रयोजन स्वीकार किया है, दैनिक जीवन और धर्म का अंग मानना उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। गुरु ग्रन्थ साहिब के आगे माथा टेकने, भेंट चढ़ाने और मानता मानने को उन्होंने जड़-पूजा ही माना है।

गुरु नानक संस्कृत नहीं जानते थे, यह सब मानते हैं। फिर गुरु ग्रन्थ साहिब में जिन वेदों का नाम इतनी अधिक वार आता है, उनमें क्या लिखा है, यह जानने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। कृष्ण दयानन्द ने स्वयं यह कार्य किया। इसलिए प्रत्येक वेदप्रेमी को, जिसमें सिक्ख भी शामिल हैं, इस बात के लिए उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

अब से लगभग ७० साल पहले स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखी गई 'आर्य पथिक' में पं० लेखराम की जीवनी से एक उद्धरण देना यहाँ

उचित होगा, वे लिखते हैं—

“एक बार रेल की यात्रा में एक उदासी साधू का साथ हुआ। बातचीत में स्वामी दयानन्द को साधुनिन्दक बताते हुए उसने कहा—“दयानन्द ने गुरु नानक जी को दम्भी लिखा है और उनकी निन्दा की है। यह संन्यासियों का काम नहीं।” पण्डित लेखराम जी उस उदासी साधू को बड़े प्रेम से समझाने लगे और कहा—‘देखो, बाबा नानक जी के आशय की तो स्वामी जी ने प्रशंसा ही की है। हाँ, वेदों की कहीं-कहीं निन्दा उनसे सहन नहीं हुई और संस्कृत न जानते हुए भी उसमें पग अड़ाते देखकर यह लिखा है कि दम्भ भी किया होगा।’ पण्डित लेखराम ने बहुत समझाना चाहा, पर वह उदासी साधू कुछ भी समझने को तैयार नहीं था। उल्टे कोलाहल करने लगा। तब पण्डित लेखराम ने कड़ककर कहा—“अच्छा, अगर बाबा नानक खुद कह दें कि मुझमें दम्भ है, तो ?” उदासी साधू इस पर चकित होकर बोला—“यह क्या ?” तब पण्डित लेखराम ने सिक्खों के ग्रन्थ से एक वाक्य पढ़ा जिसमें दो-तीन साधारण निर्बलताओं के साथ ‘दम्भी’ शब्द भी था। अब तो उदासी बाबा ढीले पड़ गये और बोले—“यह तो कसरनफसी (विनम्रता) है। इसका मतलब यह थोड़े ही है कि श्री गुरु महाराज दम्भी थे।”

हाजिरजवाब पं० लेखराम ने उत्तर में दस घृणित पापों के नाम लेकर कहा—“ये सब पाप उन्होंने अपने में क्यों नहीं बतलाये ? गुरु नानक सच्चे भी थे और ईश्वरभक्त भी। उन्होंने हमारे कहे हुए अन्य दुराचारों का नाम इसलिए नहीं लिया कि उनमें वह ऐब नहीं थे। दो-तीन कमजोरियाँ ही गरीब में थीं इसलिए उन्हीं से बचने की अपने मालिक से प्रार्थना की। तुम चाहे अपने गुरु को कुछ भी समझो हम तो बाबा नानकदेव को सच्चा और ईश्वरभक्त समझते हैं।”

उदासी फिर कुछ-न-कुछ कहना चाहता था, परन्तु आर्यपथिक ने यह कहकर बात समाप्त कर दी—“बस, साहब, मैं तुमसे बात

## २४२ : असलियत क्या है

करना भी पाप समझता हूँ। तुम गुरु निन्दक हो।” इसके बाद उदासी जी की वाणी पर ताला लग गया।”

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में उद्धरण दिया है—

वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानी ॥

सन्त की महिमा वेद न जानी ॥

नानक ब्रह्मा ज्ञानी आप परमेश्वर ॥

आरोप यह है कि गुरु ग्रन्थ साहिब में उक्त पाठ कहीं नहीं मिलता। जब यह पाठ है ही नहीं, तब इसकी आलोचना भी व्यर्थ है।

यह कहना सही है कि उक्त पाठ ग्रन्थ साहिब में नहीं है। पर स्वामी दयानन्द स्वयं गुरुमुखी नहीं पढ़े थे, न ही उन्होंने ग्रन्थ साहिब का पाठ किया था। किसी ने उनको जैसा बताया, वैसा उन्होंने लिख लिया और वही सत्यार्थ प्रकाश में अंकित कर दिया। भले ही ‘वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानी’ यह पाठ ग्रन्थ साहिब में न हो, पर अत्यन्त प्रचलित होने के कारण किसी ने स्वामी जी को बताया और उन्होंने वैसा मान लिया, अनुसंधान की आवश्यकता नहीं समझी। प्रायः ऐसा होता है। इसी प्रकार का एक और पद है जो खूब प्रचलित तो है, किन्तु ग्रन्थ साहिब में कहीं नहीं है। वह पद है—

करे करावे आपे आप। मानुष के कुछ नहीं हाथ ।

दूसरी बात यह कि गुरु ग्रन्थ में उक्त पाठ वेशक अनुपूर्वी के क्रम में नहीं है, किन्तु उस भाव के द्योतक ग्रन्थ अनेक शब्द हैं। इस पाठ के दो भाग हैं—एक : ‘वेद पढ़त ब्रह्मा मरे।’ दूसरा : ‘चारों वेद कहानी।’ इन भागों के भाव वाले शब्द इस प्रकार हैं—

(क) नाभि कमल ते ब्रह्मा उपजे

वेद पढ़हि मुखि कण्ठ सवारि ॥

ताको अन्त न जाई लखणा

आवत जात रहे गुबारि ॥

—गूजरी महला १, शब्द २, पृष्ठ ४८६

(ख) सनक सनन्द अन्तु नहीं पाइआ ।

वेद पड़े पड़ि ब्रह्मे जनमु गवाइआ ॥

—राग आसा की बार जी, शब्द १०, पृष्ठ ४७८

'वेद पढत ब्रह्मा मरे' और 'वेद पड़े पड़ि ब्रह्मा जनम गवाइयाँ' और 'आवत जात रहे गुबार' में शब्द-भेद होते हुए भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं है ।

दूसरा भाग है—'चारों वेद कहानी ।' इस भाव को बताने वाले शब्द ये हैं—

वेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकरू न जाइ ।

—तिलंग कवीर जी, शब्द १, पृष्ठ ७२७

इस पद में वेद को 'इफतरा' कहा है । इफतरा का अर्थ है—कपोलकल्पना (गुरमत प्रभाकर) [पृष्ठ ६४८] । इसके अलावा पं० तारा सिंह ने लिखा है—

'इफतरा/अ०/लहुताव' बहकाब । यथा 'वेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकर न जाई ।' सामादि चारों वेद और अंजील आदि किताबें परस्पर विरुद्ध वचनों से सन्देह पैदा करने वाली हैं । जांते पूरे गुरों के उपदेश बिना इनसे चित का सन्देह जाना कठिन है ।'

—गुरुगिरार्थ कोष, पृष्ठ ११६

इस प्रकार यह सत्य है कि सत्यार्थ प्रकाश वाला पाठ ग्रन्थ साहब में नहीं है, पर उस भाव को बताने वाले शब्द अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं ।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जब यह पाठ ग्रन्थ साहब में नहीं है तब उसे सत्यार्थ प्रकाश में से निकाल ही क्यों न दिया जावे ।

सत्यार्थ प्रकाश के लेखक ऋषि दयानन्द हैं । उनके जीवनकाल में कोई उनका इस ओर ध्यान खींचता तो 'सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने' का सदा उपदेश देने वाले ऋषि इसे निकाल ही देते । लेखक को ही स्वयं अपने लेख में परिवर्तन का अधिकार है,

किसी अन्य को नहीं। लेखक को दिवंगत हुए सौ वर्ष से ऊपर हो गए। अब किसी अन्य व्यक्ति को उनके लेख में परिवर्तन का अधिकार नहीं है। अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि इस पाठ के नीचे टिप्पणी में लिख दिया जाए कि यह पाठ इस रूप में ग्रन्थ साहिब में नहीं है, पर उस भाव को बताने वाले जो शब्द हैं वे भी लिख दिये जाएँ।

फिर भी यदि कोई इसी जिद् पर अड़ जाए कि जब यह पाठ ग्रन्थ साहिब में नहीं है तो इसे निकाल ही देना चाहिए, तो प्रश्न यह है कि यदि किसी लेखक ने कोई पाठ लिख दिया और वह ठीक नहीं, तो उस ग्रन्थ से वह पाठ निकाल ही दिया जाए—यह व्यवस्था केवल सत्यार्थ प्रकाश पर ही लागू होगी, या अन्य ग्रन्थों पर भी? यदि केवल सत्यार्थ प्रकाश पर ही इस व्यवस्था को लागू करने का इरादा हो, तो यह सर्वथा अन्याय होगा। स्वयं ग्रन्थ साहिब में ही एक स्थान पर आता है—

**गैंडा मारि होम जग कीए देबतियाँ की बाणे ।**

—राग मल्हार वार महला, वार २५, पृष्ठ १२८६

“देवताओं का स्वभाव है कि वे गैंडे को मारकर हवन करते हैं।” शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों और कात्यायन आदि श्रौत सूत्रों में जिन यज्ञों का वर्णन आता है उनमें अजामेघ, अश्वमेघ, गोमेघ आदि का वर्णन तो है, पर गैंडे मारने वाले किसी यज्ञ का कहीं उल्लेख नहीं हैं। क्या इस पाठ को निकाल दिया जाए?

दूसरा उदाहरण हिरण्याखस (हिरण्याक्ष) का है। ग्रन्थ साहिब में आता है—

**दुरमति हरणाखसु दुराचारो ॥**

**प्रभु नारायणु गरब प्रहारो ।**

**प्रह्लाद उधारे किरपा धारो ॥**

—गउड़ी अष्टमियाँ, महला १, पृष्ठ २२४

नानक हरनाखसु नखी विदारिआ ।

अन्धै दर की खबरि न पाई ॥

—राग भैरव, महला ३, पृष्ठ ११३३

दशम ग्रन्थ के अवतार वर्णन में प्रल्हाद की कथा विस्तार से दी गई है और उसमें कहा गया है कि नरसिंह ने अवतार लेकर हिरण्याक्ष को मार दिया और प्रल्हाद का राजतिलक करके उसे राजा बना दिया । यह कथा मूलरूप से पुराणों की है । भागवत पुराण के अनुसार प्रल्हाद के पिता का नाम हिरण्यकश्यप था । हिरण्याक्ष तो उसका भाई था । नरसिंहावतार ने मारा भी हिरण्यकश्यप को ही था, हिरण्याक्ष को नहीं । पुराण की कथा और पुराण के विरुद्ध वर्णन । अब यदि कोई कहे कि—‘गैडामार होम जग कीये’ और ‘हरिणाखसु नखी विदारिया’ पाठ ग्रन्थ साहब में से निकाल दिये जाएँ या इन्हें बदल दिया जाए, तो इसके लिए कौन तैयार होगा ? जब रामराय जी ने ‘मिट्टी मुसलमान की पेड़े पई कुम्हार’ को बदलकर ‘मिट्टी बेईमान की……’ कहा था, अर्थात् मुसलमान शब्द के स्थान पर बेईमान शब्द रख दिया था, तब गुरु हरिराय जी ने उन्हें हुक्म दिया था कि अब कभी मुझे अपना मुँह न दिखाना और इसके बाद गुरु पदवी से भी उनको वंचित कर दिया था । गुरु गोविन्द सिंह ने जब खालसा की दीक्षा दी थी तब उन्होंने रामराइयों के साथ व्यवहार न करने अर्थात् उनसे रोटी बेटी का सम्बन्ध न करने का भी आदेश दिया था । भाई मणिसिंह ने तो पाठ नहीं, केवल गुरुवाणी अक्षरों को एक-दूसरे से अलग ही किया था, तो यह कहकर कि, “आपने गुरु देह का अंग-भंग किया है, तुम्हें इसके बदले अंग-अंग कटवाना पड़ेगा” सावधान किया गया था ।

इन ऐतिहासिक घटनाओं के होते हुए पाठों के परिवर्तन की बात कौन कह सकता है ? जब ग्रन्थ साहब में पाठ परिवर्तन का किसी को अधिकार नहीं, तो सत्यार्थप्रकाश में भी परिवर्तन का अधिकार कैसे

२४६ : असलियत क्या है

हो सकता है ?

हिन्दी ही क्यों ?

अब रहा आर्यसमाज पर यह आरोप कि उसकी प्रेरणा से सन् १९५१ की जनगणना में पंजाब के समस्त हिन्दुओं ने अपनी मातृभाषा पंजाबी लिखवाई। इसके उत्तर के लिए कुछ विस्तार से चर्चा करना ठीक रहेगा, क्योंकि सबसे अधिक कटुता इसी बात को लेकर फैलाई गई है।

गुरु तेगबहादुर को जब मुसलमान बनने के लिए कहा गया तो औरंगजेब को उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—

उत्तम भग्यो धर्म हिन्दू ।

अति प्रिय को किम करे निकन्दू ॥

लोक परलोक उभ्य सुख दानी ।

आनन पाइयत याहि समानि ॥

मति मलीन मूरख मति जेर्इ ।

इसकी त्यागे पामर सोर्इ ॥

हिन्दू धर्म रखे जग मांही ।

तुमरे करे विनसय यह नाहीं ॥

—‘हमारा उत्तर यह है कि हमें हिन्दू धर्म अतिप्रिय है। इसको कोई कैसे नष्ट कर सकता है। यह लोक-परलोक दोनों में सुख देने वाला है और इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है। जिसकी मति मलीन है, जो मूर्ख है, वही इसको त्याग कर पामर बनेगा। हिन्दू धर्म संसार में सदा रहेगा, यह तुम्हारे किये नष्ट होने वाला नहीं है।’ इन शब्दों में गुरुजी की हिन्दू धर्म के प्रति जैसी श्रद्धा व्यक्त होती है, वह अनुपम है। इसीलिए वे ‘हिन्दू की चादर’ कहलाये। सिक्खों को हिन्दुओं से अलग बताने वाले उसी चादर में छेद करते हैं। गुरुओं की भी जैसी श्रद्धा हिन्दू धर्म के प्रति रही, वैसी ही श्रद्धा हिन्दुओं की भी गुरुओं के प्रति रही। कहीं द्रेष का लेश नहीं। गुरुओं ने हिन्दुत्व

को जो महत्त्व दिया, उससे कम महत्त्व हिन्दी को नहीं दिया।

उस समय हिन्दी बोलने में प्रान्त-भेद से जो भेद प्रचलित हो गये वे पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, उत्तरी हिन्दी और दक्षिणी हिन्दी नाम से जाने गए। पंजाब में वह पश्चिमी हिन्दी या लहंदा कहलाती थी। इसकी लिपि का नाम भी लण्डा, टाकरा, मूँडला या महाजनी था। यह लिखने में सुगम थी और एक तरह की 'शार्टहैंड' थी। इसमें एक दोष यह था कि इसमें मात्राएँ नहीं होती थीं, इसलिए काफी कुछ अनुमान से पढ़ना पड़ता था। 'अजमेर' को 'आज मरे' या 'बही' को 'बहू' भो पढ़ा जा सकता था। इस कमी को दूर करने के लिए गुरु अंगददेव ने कश्मीर में प्रचलित शारदा लिपि, टाकरा लिपि और देवनागरी को मिलाकर गुरुमुखी लिपि बनाई। गुरुमुखी की बनावट का मुख्य आधार शारदा लिपि है, उसमें शारदा लिपि के १६ अक्षर ज्यों-के-त्यों लिये गये हैं। उससे पहले गुरुमुखी लिपि कहीं नहीं थी, जबकि देवनागरी लिपि का इतिहास उससे लगभग बारह सौ साल पहले का है। उसके बाद से गुरुमुखी लिपि केवल पंजाब में, वह भी सिखों के धर्मग्रन्थ में, प्रयुक्त होती रही, जबकि देवनागरी पंजाब के साथ-साथ अन्य सब प्रान्तों में भी जारी रही। गुरु अंगददेव से पूर्व सभी सन्तों और सुधारकों की वाणियाँ देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थीं। यह बात स्वयं मैकालिफ ने अपनी पुस्तक 'सिख रिलीजन' (द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५५) में स्वीकार की है।

गुरुमुखी का सबसे पहला ग्रन्थ, यदि उसे ग्रन्थ कहा जा सकता हो, तो गुरुनानक देवजी की जन्म-पत्री है। वह भी मूल रूप से हिन्दी और देवनागरी लिपि में ही थी। गुरु अंगददेव ने उसे गुरुमुखी लिपि में लिखवाया। तब भी केवल लिपि बदली, भाषा नहीं। भाषा तो वही पश्चिमी हिन्दी ही रही।

अब जिसे हम 'पंजाबी' कहते हैं, वह हिन्दी की ही एक उपभाषा है—पश्चिमी हिन्दी। प्राचीनकाल में सप्त सिन्धु, मद्रदेश, टक्कदेश,

वाल्हीक और पंचनद आदि नामों से सम्बोधित होने वाले इस प्रदेश को मुसलमानों ने यदि फारसी का 'पंजाब' नाम न दिया होता, तो प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी ग्रियर्सन के कथनानुसार यह भाषा आज भी 'लहंदा' या 'पश्चिमी हिन्दी' ही कहलाती। पर सिखों ने साम्प्रदायिक भावना के कारण पंजाबी और गुरुमुखी को अपने धर्म के साथ जोड़-कर उसे हिन्दी और देवनागरी के मुकाबले में खड़ा कर दिया। किसी हिन्दू या आर्यसमाजी को पंजाबी से कोई विरोध नहीं है। वह हिन्दी की एक उपभाषा है ही, और पंजाब के हिन्दू उससे उतनी ही आत्मीयता रखते हैं, जितनी सिख। इसीलिए कोई दो पंजाबी बन्धु भारत में या भारत के बाहर कहीं मिलें तो आपस में पंजाबी में बात करने में गर्व अनुभव करते हैं। यह गर्व सब पंजाबियों की विरासत है, पर विवाद तब उत्पन्न होता है जब पंजाबी को गुरुमुखी लिपि के साथ बाँध दिया जाता है।

अकबर के समय तक सारा काम-काज हिन्दी और देवनागरी में चलता था, पर अकबर के दीवान टोडरमल ने उसके स्थान पर फारसी लिपि लागू की। उस समय भी गोस्वामी तुलसीदास ने तुलसी रामायण लिखकर हिन्दी और हिन्दू की अस्मिता को परवान चढ़ाया था। तब से वही परम्परा पंजाब में भी चली आ रही थी। महाराजा रणजीत सिंह के समय भी राजकाज की और अदालत की भाषा पंजाबी नहीं, फारसी ही थी। पंजाबी की एकमात्र साहित्यिक कृति वारिसशाह की हीर है, जो फारसी लिपि में है। पंजाबी की परीक्षाओं की पाठ विधि में यहो फारसी लिपि वाली हीर शामिल रही है। दामोदर की हीर सर्वप्रथम और प्रामाणिक मानी जाती है। यह दामोदर, झंग स्याल का पटवारी था और हीर के पैतृक परिवार से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। हीर के विवाह में वह भोजन परोसने वालों में शामिल था। उसके सम्बन्ध में एक मुसलमान ने लिखा था—

“दामोदर नामी खुश कलामी, हिन्दी छ्वानी, ताजा बयानी,  
दोहराबन्दी, शेयर हिन्दी, साहिब कमाल, मोहतरजम तरजमानु  
हर किस्म दास्तान ।”

—(जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल लैटर्स,

खण्ड XIX १६५३, पृष्ठ १२३

इसमें दामोदर को हिन्दी कविता करने में माहिर और हर प्रकार की कथा-कहानी लिखने में निपुण बताया गया है। इसका अर्थ भी स्पष्ट है कि जिसे आजकल पंजाबी कहा जाता है, वह उस समय हिन्दी कहलाती थी और फारसी में लिखी जाती थी। पाकिस्तान बनने से पहले तक यही स्थिति थी। कादर यार की ‘पूरन भगत’, मौलवी गुलाम रसूल की ‘युसफ जुलैखां’ तथा अन्य कवियों की लिखी ‘सोहनी महीवाल’ फारसी लिपि में ही लिखे गये। शाह मुहम्मद ने सिक्खों तथा अंग्रेजों के युद्ध का ऐतिहासिक वृत्तान्त पंजाबी बैतों में फारसी लिपि में ही लिखा। आज भी पाकिस्तान के निवासी मुसलमान पंजाबी के लिए कभी गुरुमुखी लिपि का प्रयोग नहीं करते, फारसी लिपि का ही प्रयोग करते हैं। पश्चिमी पंजाब के १६ जिलों में पंजाबी कविता फारसी लिपि में ही लिखी जाती है। विभाजन से पहले अनेक हिन्दू और सिक्ख जपुजी और सुखमनी फारसी लिपि में ही पढ़ा करते थे। पर अब सिक्ख कहते हैं कि पंजाबी वही है जो गुरुमुखी में लिखी गई हो। इस तरह पंजाबी को, जो हिन्दी की एक उपभाषा मात्र थी, उन्होंने गुरुमुखी के साथ नत्थी करके उस पर भी साम्प्रदायिकता का मुलम्मा चढ़ा दिया। ब्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली, गढ़वाली, गोरखपुरी, बांगरू, पहाड़ी, डोगरी—ये सब हिन्दी की उपभाषाएँ हैं और ये सब देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। उपभाषाओं को छोड़ दें, नेपाली और मराठी जैसी समर्थ भाषाएँ भी देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। पर सिक्खों ने अपने दुराग्रह के कारण पंजाबी के लिए देवनागरी को

अस्वीकार कर दिया। यही झगड़े की जड़ है। एक समय था जब सन् १६३१ में स्वयं मास्टर तारासिंह आदि सिक्ख नेताओं ने पंजाबी को किसी भी लिपि में लिखने की छूट की माँग की थी। क्योंकि तब तक वह फारसी लिपि में ही लिखी जाती थी। परन्तु आज जब आर्यसमाजियों की ओर से वही माँग की जाती है तो वे उसे मानने को तैयार नहीं। हम फिर दुहराना चाहते हैं कि झगड़ा पंजाबी का नहीं, वह तो सब पंजाबियों को स्वीकार है, पर उसे किस लिपि में लिखा जाए, इसी बात पर झगड़ा है। सिक्ख कहते हैं—केवल गुरुमुखी लिपि में : आर्यसमाजी पूछते हैं—देवनागरी में क्यों नहीं? सिक्ख साम्प्रदायिकता के सामने यह प्रश्न करना गुनाह है।

इसी तरह की बात मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ है। किसी का उर्दू से द्वेष नहीं। सभी विद्वान् उसे हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं, पर मुसलमानों की ओर से जब फारसी लिपि का आग्रह किया जाता है तो भारतीय जनमत उसे केवल साम्प्रदायिकता मानता है। सिक्ख नेता राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए जिस तरह मुस्लिम लीग के पदचिह्नों पर चल रहे हैं, उसी तरह भाषा और लिपि के मामले में भी। उर्दू और पंजाबी दोनों भारत की आर्य-भाषाएँ हैं। उन्हें भारत में पनपने का पूरा अधिकार है, पर देवनागरी की उपेक्षा करके नहीं। विवाद भाषा का नहीं, लिपि का है। यहाँ भी मन का काल्पनिक भय ही दुराग्रह का कारण है। मुसलमानों को लगता है कि फारसी लिपि नहीं रही तो उर्दू समाप्त हो जाएगी और सिक्खों को लगता है कि गुरुमुखी नहीं रहेगी तो पंजाबी समाप्त हो जाएगी। यह मिथ्या भय है। क्या देवनागरी को अपनाकर नेपाली और मराठी समाप्त हो गई?

देवनागरी लिपि की विशेषता के सम्बन्ध में दो उद्घरण देना पर्याप्त होगा।

“हमारे भारतवर्ष की संस्कृत वर्णमाला (देवनागरी) और

कण्ठतालव्यादि स्थान भेदों के द्वारा उसकी जो यथाक्रम रचना की गई है, वह इतनी वैज्ञानिक, सूक्ष्म और संसार भर की मानव-जाति की प्रचलित नाना प्रकार की वर्णमालाओं में उत्कृष्ट है कि उसे हम अपने पुरातन पूर्वजों का एक आश्चर्यजनक आविष्कार समझकर अपनी संस्कृत पर गर्व कर सकते हैं।”

—स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

“देवनागरी का स्थान हिन्दी भाषा की अपेक्षा भी अधिक है। नेपाली और मराठी भाषा भी इसी लिपि में लिखी जाती हैं। गुजराती भाषा में भी इसी लिपि को प्रयोग करते हैं। (उदाहरण, बड़ौदा राज्य)। यही नहीं, देवनागरी लिपि की वर्णमाला आरम्भ से ही भारत का वर्णक्रम रही है। कोई भी भारतीय लिपि ऐसी नहीं जिसमें यह वर्णक्रम विद्यमान न हो। देवनागरी को संस्कृत के माध्यम ले विश्वव्यापी लिपि कहा जा सकता है। लन्दन, पेरिस, बर्लिन, टोकियो, अफगानिस्तान, रूस—जहाँ-जहाँ भी संस्कृत का अध्ययन होता है, उन सब देशों में देवनागरी के मुद्रणालय हैं जिनमें भारतवर्ष की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा शुद्ध संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं।

—डॉ० रघुवीर (संसद सदस्य) प्रसिद्ध प्राच्यविद्

हिन्दी का समस्त साहित्य लोकोन्मुख अधिक है। वह लोक-धर्म, लोकचित्त और लोकभाषा का साहित्य है। हिन्दी की इसी लोकधर्मिता के कारण पंजाब में हिन्दी कवियों को प्रोत्साहित करना और हिन्दी काव्य को प्रचलित करना लोकधर्मी गुरुओं को उचित लगा। उन्होंने स्वयं ब्रजभाषा को अपनी वाणी का माध्यम बनाया। गुरुओं ने, पंजाब से बाहर के जितने पूर्वकालीन भक्त कवि थे, उनकी रचनाओं का पंजाब में प्रचार किया और अपने प्रतिभा-सम्पन्न शिष्यों को हिन्दी में काव्य रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। गुरु ग्रन्थ साहिब की वाणी के विषय में

प्रिं सन्तसिंह सेंखों का कहना है—‘इसकी भाषा पुरातन संधुकड़ी, राजस्थानी-ब्रजी का मिश्रण है।’ डॉ० ट्रम्प और कनिधम सरीखे विद्वान् तो स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं—

The chief importance of the Sikh Guru Granth lies in the linguistic line, as being the treasury of the Hindi dialects.

—Preface, Page VII

The language in which the whole work is written is not so much the old Punjabi dialect as the old Hindi.

— History of Sikhs by J. D. Cunningham, 1984, page 346

डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का कथन भी इस विषय में ध्यान देने योग्य है—“पंजाब में प्राचीन अपभ्रंश की परम्परा में आई हुई ब्रजभाषा का बहुत जोर था, परन्तु पंजाब के कवियों को हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही अधिक मनोनुकूल सिद्ध हुई। सिक्ख पन्थ के गुरुओं की भक्ति-विषयक कविताओं की भाषा इसकी साक्षी है, यह पंजाबी-हिन्दुस्तानी-ब्रजभाषा मिश्रित भाषा है।”

—‘भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी’ पृष्ठ २२१  
दशम ग्रन्थ के सम्बन्ध में ज्ञानी गुरमुखसिंह कहते हैं—

वाणी दशम ग्रन्थ की भाई।

आप रची कुछ गुर रचवाई॥

पर्व अठारह भारत करे।

उपनिषदां पुराण उधरे॥

गोविन्द गीता सहित उपदेश।

इत्यादिक पुस्तक सविशेष॥

संस्कृत ते हिन्दी भाषा।

रचवाये गुर रचे विलास॥ —पन्थ प्रकाश

इस प्रकार जो ग्रन्थ मुख्य रूप से हिन्दी या उसकी अपभ्रंश बोलियों से भरा हो, उसको केवल गुरमुखी लिपि से बाँधे रखना और देवनागरी

लिपि में लिखी पंजाबी को पंजाबी न मानना, किसका दुराग्रह है ? सिक्खों का या आर्यसमाजियों का ?

आर्यसमाजियों द्वारा हिन्दी और देवनागरी को प्रश्रय देने का एक कारण और भी है। उत्तर प्रदेश और बिहार की राजभाषा हिन्दी है, परन्तु वहाँ के मुसलमान अपनी भाषा उर्दू लिखवाते हैं—भले ही वे घर में अवधी, मगधी और भोजपुरी बोलते हों। इन्हीं बोलियों को बोलने वाले हिन्दू अपनी मातृ-भाषा हिन्दी लिखवाते हैं। इसका कारण यह है कि उत्तर भारत में धर्म-ग्रन्थों की लिपि के आधार पर जनगणना में अपनी मातृ-भाषा लिखवाने की परम्परा चली आ रही है। मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ उर्दू बल्कि अरबी में हैं, तो जैसे उनके लिए अपनी मातृभाषा उर्दू लिखवाना स्वाभाविक है, वैसे ही हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ हिन्दी में होने के कारण उनके लिए हिन्दी को मातृभाषा लिखवाना उतना ही स्वाभाविक है।

हिन्दी को मातृभाषा लिखवाने का एक तौसरा कारण और भी है। आर्यसमाज हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का साधन मानता है। स्वामी दयानन्द की नवीनतम जीवनी लिखने वाले, आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय कैनबरा के प्रोफेसर जोर्डन्स लिखते हैं—

“बनारस से बम्बई और लाहौर तक जहाँ भी स्वामी जी गये, उन्होंने हिन्दी का व्यवहार किया। हिन्दी उनके लिए भारत में फूट डालने वाली प्रवृत्तियों पर विजय पाने का साधन थी। इससे विभिन्न प्रान्तों और जातियों में एकता को पुष्ट किया जा सकता था। उनसे जब एक बार पूछा गया कि हमारा देश कब अपनी पुरानी गरिमा और समृद्धि को प्राप्त करेगा, तब उन्होंने उत्तर दिया था कि जब धर्म, भाषा व उद्देश्यों की एकता होगी। इससे सपष्ट है कि स्वामी जी राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता को आवश्यक समझते थे।”

इस दृष्टि से स्वामी जी सभी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य मानते थे। एक बार जब उनके ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुमति किसी सज्जन ने माँगी, तो स्वामी जी ने वडे प्रेम से उत्तर दिया था—“मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरसती हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा बोलने और समझने लग जाएँगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे आर्यभाषा (हिन्दी) सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे।”

सिर्फ स्वामी दयानन्द ही क्यों, भारत की एकता का स्वप्न लेने वाले सभी राष्ट्रीय नेताओं ने स्वयं अहिन्दी भाषी होते हुए भी, हिन्दी को यही महत्व दिया है। स्वामी जी स्वयं जन्मना गुजराती थे, अहिन्दी भाषी थे, संस्कृत के पण्डित थे, उन्हें हिन्दी आती भी नहीं थी, पर जब बंगाल में ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने उनका हिन्दी के इस राष्ट्रीय महत्व की ओर ध्यान दिलाया, तो उन्होंने हिन्दी को अपना लिया और उसके बाद अपने सब ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे। बंगाल के शारदा चरण मित्र ने भारत की समस्त भाषाओं के लिए एक लिपि देवनागरी की कल्पना की थी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ‘देवनागर’ नामक पत्र निकाला था। बंगाल के सांस्कृतिक जागरण के पुरोधा बंकिमचन्द्र चटर्जी ने लिखा था—

“हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के मध्य जो ऐक्य-बन्धन संस्थापन करने में समर्थ होंगे, वे ही सच्चे भारत-बन्धु के नाम से पुकारे जाने योग्य हैं। सब कोई प्रयत्न करिये, चेष्टा करिये, चाहे जितने दिन लगें, यह मनोरथ पूर्ण होगा।”

—बंगदर्शन, पंचम खण्ड

महात्मा गांधी स्वयं अहिन्दी भाषी थे, पर उन्होंने हिन्दी के प्रचार के लिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति बनाई और हरेक प्रान्त में उसकी शाखाएँ स्थापित कीं। स्वयं अपने पुत्र (देवदास गांधी) को हिन्दी

### प्रचार के लिए मद्रास भेजा ।

इन्हीं सब विभिन्न भाषा-भाषी राष्ट्रीय नेताओं के आन्दोलन का परिणाम था कि स्वतन्त्र होने पर भारत ने अपने संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा का दर्जा दिया । हिन्दी भारत-भर के सभी राज्यों के लोगों को आपस में जोड़ने वाली एक कड़ी है । हिन्दी हमारी राष्ट्रीयता का वाहन है । पंजाब के आर्यसमाजी या हिन्दू यदि हिन्दी को मातृभाषा लिखवाते हैं तो उसका कारण यही है कि वे राष्ट्र के सभी भागों के साथ अपनी एकात्मता का माध्यम मानते हैं । हिन्दी केवल भाषा ही नहीं, वह हमारी राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक है । पंजाववासी हिन्दुओं के लिए हिन्दी उनकी मातृ-भाषा तो है ही, वह उनकी धर्मभाषा है, उनकी लोकभाषा है, उनकी राजभाषा है, और भारत-वर्ष को एक और अखण्ड रखने का सबल साधन है । जिन संकीर्ण दिमागों को हिन्दुस्तान नहीं दिखता, केवल खालिस्तान दिखता है, उन्हें ही सिक्खों के बोलबाले की सनक भी सवार है । उस सनक के पूरा होने में उन्हें आर्यसमाज ही बाधक प्रतीत होता है, इसलिए सारा आक्रोश आर्यसमाज पर है ।

विचारों की उग्रता या आग्रह में आर्यसमाज भी कम नहीं है । पर सिक्ख नेताओं की उग्रता अपनी साम्रादायिकता के विस्तार के लिए है, जबकि आर्यसमाज की उग्रता राष्ट्रीय एकात्मता के विस्तार के लिए है । सिक्ख नेताओं का आग्रह उन्हें आतंकवाद की ओर ले जाता है, आर्यसमाजियों का आग्रह उन्हें आत्मबलिदान के लिए प्रेरित करता है । एक अहम उनका है तो एक अहम इनका भी है । इन अहमों के टकराव को टालने का एक ही उपाय है—देश के समस्त समुदाय, समस्त सम्प्रदाय, समस्त जातियाँ, समस्त उपजातियाँ, सभी वर्ग, राष्ट्र को सबसे ऊपर रखें और अपना तन, मन, धन राष्ट्र के लिए समर्पित करने को सन्नद्ध हों । यही सच्चा राष्ट्रवाद है । सबके मुख से, किसी वर्ग विशेष के बोलबाले या उसे विशेष दर्जा देने के

२५६ : असलियत क्या है

लिए नहीं, बल्कि समस्त राष्ट्र के हित के लिए यही ध्वनि निकले—  
इदं राष्ट्रीय स्वाहा इदं न मम ।

—मेरे पास जो कुछ है उसे मैं राष्ट्र के लिए अपित करता हूँ, यह सब राष्ट्र के लिए है, मेरे लिए नहीं ।

सिक्ख पंजाब की शस्त्र-भुजा है और आर्यसमाज पंजाब की शास्त्र-भुजा है । अगर शस्त्र और शास्त्र को धारण करने वाली ये दोनों भुजाएँ राष्ट्रहित में लग जाएँ, तो श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में यह कहा जा सकता है—

यत् योगेश्वरः कृष्णो यत् पार्थो धनुर्धरः ।

तत् श्री विजयो भूतिष्ठुंवा नीतिर्यतिर्मम ॥

—जहाँ योगेश्वर कृष्ण का बुद्धिबल हो और जहाँ अर्जुन का क्षात्र बल हो, वहाँ विजय, श्री, सम्पदा और ऐश्वर्य विद्यमान रहेंगे, यही शाश्वत नीति है ।

पंजाब को ये दोनों बल प्राप्त हों, यही कामना है ।

[ १७ अगस्त, १९८६ ]

□□

